परातन्त्र साधना पथ

म.म. पं. गोपीनाथ कविराज

प्रस्तुति

रमेशचन्द्र अवस्थी

परातन्त्र साधना पथ

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

प्रस्तुति

रमेशचन्द्र अवस्थी

मानस ग्रंथागार, वाराणसी

PARATANTRA SĀDHANĀ PATH

by

M.M. Pt. Gopinath Kaviraj

Edited by

Ramesh Chandra Awasthi

1998

प्रथम संस्करण : १९९८ ई०

मूल्य : चालीस रुपये

प्रकाशक

मानस ग्रंथागार

२५, रमापुरी, संकटमोचन, वाराणसी-२२१ ००५

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा०लि०

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

समर्पण

सिद्ध भूमि गुरुराज्य
ज्ञानगंज की विभूति
सर्वमुक्ति के प्रेरक
श्री श्री १००८ परमहंस विशुद्धानंदजी
एवं उनके परमशिष्य
विश्वविश्रुत मनीषी महातन्त्रयोगी
अखण्ड महायोग के प्रवर्तक
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज
के
पावन चरणों में
दीनभोग का सप्रेम उत्सर्ग

—रमेशचन्द्र अवस्थी

प्राक्कथन

ज्ञानगंज के सिद्ध योगी श्री विशुद्धानंद परमहंस देव जीव के उपासक हैं। वे विशुद्ध सत्ता के रूप में चैतन्य सत्ता से भी अतीत हैं, जो आलोक एवं अन्धकार दोनों के अतीत उपस्थित होकर आलोक एवं अन्धकार की समष्टि द्वारा जीव को पूर्णत्व प्राप्ति का पथ प्रदर्शन कराने के लिये मृत्युलोक में अवतरित हुये थे। उनकी अवधारणा थी कि मनुष्य देह में जब तक मनुष्यत्व की प्राप्ति नहीं होगी, तब तक पूर्ण ब्रह्म-अवस्था की प्राप्ति असम्भव है। देवता अथवा ईश्वर की समकक्षता पाना मनुष्य का उद्देश्य नहीं है। बाबा ने नर देह में अवस्थित हो, चिरकाल तक साधना की। उनका लक्ष्य था किस प्रकार नर देह मृत्यु वर्जित होकर, चिदानन्दमय नित्य देह में परिणत हो सके। उन्होंने मनुष्य की साधना की, अत: उनके लिए मनुष्यत्व साध्य था। बाबा जीव के उपासक थे अतएव जीवों का अभाव तथा अतृप्ति से उद्धार करना ही उनका एक मात्र उद्देश्य था और महाप्रलय तक रहेगा।

स्वनामधन्य विश्वविश्रुत मनीषी पं० गोपीनाथ कविराज को बाबा विशुद्धानंद का अन्यतम शिष्यत्व प्राप्त हुआ। बाबा द्वारा प्रतिपादित सेवा और कर्म द्वारा विज्ञान के अन्वेषण कार्य में अपना सर्वस्व न्यौछावर किया। (देखिये 'योग तन्त्र साधना' पुस्तक का परिशिष्ट) गहन गम्भीर साधना के फलस्वरूप उनमें उद्‌भट पाण्डित्य प्रकाशित हुआ। कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी का अजस्र श्रोत बढ़कर विश्वव्यापी हुआ। उनकी लेखनी को विश्व में व्याप्त लगभग सभी उल्लेखनीय साधना पद्धतियों एवं उनमें निहित सूक्ष्म भावों को प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त है। यह उत्कृष्ट ज्ञान अनुभव सिद्ध था। अत: इसका समन्वयात्मक स्वरूप साधकों का पथ प्रदर्शित करता है। पूज्य बाबा द्वारा प्राप्त परातन्त्र धारा की 'आत्म क्रिया योग' पद्धति का कविराज जी ने अपने गम्भीर चिन्तन तथा तीव्र साधना से अत्यधिक परिष्कृत, वैज्ञानिक एवं सहज बनाया।

सर्वमुक्ति के प्रथम प्रेरक महात्मा बुद्ध की परम्परा में प्रभुपाद जगद् बन्धु, वामाक्षेपा आदि थे। बीसवीं शताब्दी में समसामयिक अवतार मेहेर बाबा, श्री अरविन्द तथा कविराज गोपीनाथ का इस दिशा में उल्लेखनीय योगदान है। इसे हम आध्यात्मिक क्रान्ति का युग कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। बाबा द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक सम्पदा को 'अखण्ड महायोग' नाम देकर श्री कविराज जी ने इसे मुखरित किया जिससे जीव जगत् को इससे परिचय मिल सका। यह अखण्ड महायोग आलोक, अन्धकार व मन से समझा जाता है। व्यष्टि मन का आयत्त है जो कभी अन्धकार व कभी प्रकाश में रहता है। समस्या है समष्टि मन के आयत्त होने की। समष्टि प्राण आयत्त है। काया जीव व मन से सम्बद्ध है। हनुमान जी को 'अजर अमर गुन निधि सुत होहू' के सीता

द्वारा आशीर्वाद मात्र से यदि व्यक्ति काल पर विजय प्राप्त कर सकता है तो कर्म करके ऐसा क्यों नहीं हो सकता। सूक्ष्म मन, सुषुम्ना ही कुण्डलिनी है, क्षण है। कविराज जी ने १६४८ में इसका पूर्वाभास पाकर 'अखंण्ड महायोग' पुस्तक लिखी थी। जिसका बंगला में १६५६ में प्रकाशन हुआ। बाद में हिन्दी में १६७२ में इसका प्रथम बार अनुवाद प्रकाशित हुआ। शरीर त्याग के दो वर्ष पूर्व १६७४ में जब उनसे पूछा गया कि क्षण अवतरण कब होगा? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि उस समय तो मुझे इसका आभास मात्र ही हुआ था अब मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। किसी भी समय क्षण का अवतरण सम्भव है। मात्र माँ की पुकार चाहिये।

इस परम्परा में दीक्षित साधना का विश्लेषण करने का साहस मैंने किया था, प्रथम बार १६६० में 'योग तन्त्र साधना' का विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी द्वारा इसका प्रकाशन किया गया, जिसका दूसरा संस्करण भी १६६६ में हो चुका है। इस प्रक्रिया को कविराज जी के पाठकों ने सहर्ष अपनाया। जिज्ञासुओं के जन कल्याण को दृष्टि में रखकर मैं इसकी पूरक पुस्तक 'परातन्त्र साधना पथ' में इस धारा की विभिन्न गतियों पर प्रकाश डाला है। आशा है जिज्ञासु लाभान्वित होंगे।

पुस्तक लेखन में योगाचार्य पं० श्रीनारायण मिश्र, स्वामी ललितमोहन मिश्र तथा तान्त्रिक हरिमोहन सिंह जी का समय-समय पर विचार विमर्श शंका समाधान तथा सुझाव का योगदान सराहनीय है। अन्त में अपने अभिन्न सहचर सहयोगी श्री सत्यदेव मिश्र के विशिष्ट योगदान के लिए मैं सदैव उनके आध्यात्मिक उत्थान की मंगल कामनायें करता हूँ।

श्री पुरुषोत्तमदास मोदी अध्यात्म साहित्य विशेषकर कविराज जी के परम भक्त एवं समर्पित हैं। विशेषकर उन्हीं के आग्रह पर विशेष रूप से मैंने यह परिश्रम किया है। वे इसे प्रकाशित कर आध्यात्मिक जगत् का कल्याण कर रहे हैं। बधाई के पात्र हैं।

बुद्ध पूर्णिमा
२२ मई, १६६७
४४-डी, कैण्ट रोड
हुसेनगंज, लखनऊ

रमेशचन्द्र अवस्थी

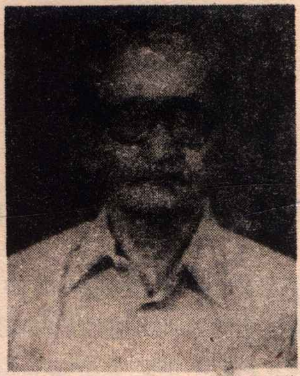

स्व० रमेशचन्द्र अवस्थी

जन्म : 30 मई 1917,

निधन : 17 फरवरी 1998

परमहंस विशुद्धानंद के कृपाकोष म.म.पं. गोपीनाथ कविराज की ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रादुर्भूत सर्वमुक्ति प्रक्रिया ' अखण्ड महायोग ' संस्थान के अध्यक्ष के रूप में अनेक जिज्ञासुओं एवं साधकों का मार्गदर्शन कर अध्यात्म पथ पर अग्रसर करते रहे। आत्मप्रसिद्धि से दूर गुप्त एवं गृहस्थ योग के रूप में अन्तर्भुक्त रहे।

लखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी, संस्कृत में एम. ए. कर 1943-46 तक राजकीय शिक्षा विभाग में अध्यापन, तदुपरान्त 1946 से 1975 तक केन्द्रीय सीमाशुल्क एवं उत्पादन कर विभाग में अधीक्षक पद से अवकाश ग्रहण।

अखंड महायोग, अध्यात्म तथा तंत्र विषय में आपकी विशेष रुचि, इन विषयों पर हिन्दी तथा अंग्रेजी में अनेक लेखों का पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन।

प्रमुख रचनाएँ : म.म.पं. गोपीनाथ कविराज और योगतंत्र साधना, परातंत्र साधना पथ, मेहेर बाबा अवतारिक रहस्य।

अनुक्रम

१. भारतीय साहित्य में परातन्त्र साधना १
षट्चक्र-भेदन १
षट्चक्र-भेदन की परिणति ३
विश्व सृष्टि का आधार परमशिव ३
२. सर्वमुक्ति एवं नवमुण्डी आसन ६
३. अद्वय तत्व के विभिन्न रूप १४
४. देह और कर्म २३
५. महाशक्ति का स्वरूप ३७
६. शक्ति-साधना ४२
७. ज्ञानगंज के सिद्ध महायोगी स्वामी विशुद्धानंद 'परमहंस देव' ४६
८. अखण्ड महायोग और ज्ञानगंज धारा ६३
९. परिशिष्ट ७८

१

भारतीय साहित्य में परातन्त्र साधना

तन्त्र शास्त्र के अनुसार तन्त्र का मूल कोई पुस्तक नहीं है। यह अपौरुषेय ज्ञान है। तन्त्र मत में परावाक् ही अखण्ड आगम है। पश्यन्ती में यह स्वयं प्रकाश रूप है, यही साक्षात्कार की अवस्था है। दूसरे में ज्ञान मध्यमा में उतर कर शब्द का आकार लेता है, यहीं विभिन्न शास्त्र एवं गुरु परम्परा प्रकट होती है। बैखरी में यह ज्ञान स्थूल रूप धारण करता है। अत: वेद और तन्त्र की मौलिक दृष्टि एक ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी भारतीय संस्कृति के बारे में विचार करने से लगता है कि दोनों साधना धाराओं का घनिष्ठ सम्बन्ध था। ऐसी प्रसिद्धि है कि बहुतेरे देवताओं ने तान्त्रिक साधना के प्रभाव से ही सिद्धि प्राप्त की थी। तान्त्रिक साधना का परम आदर्श था शाक्त-साधना। इस साधना का लक्ष्य है महाशक्ति जगदम्बा की मातृरूप में उपासना करना या शिवोपासना। श्री शंकराचार्य एक ओर जैसे वैदिक धर्म के संस्थापक थे, वैसे ही दूसरी ओर वह तान्त्रिक धर्म के प्रचारक और उपदेष्टा थे। श्री शंकर की तान्त्रिक रचनावली में 'प्रपञ्चसार' प्रधान है, इसके बाद ही 'सौन्दर्य लहरी' आदि हैं। सोम या उमासहित अर्थात् शिव शक्ति युगल, विश्वामित्र आदि की संसार सृष्टि का वर्णन शास्त्र में है। तान्त्रिक अध्यात्म दृष्टि का लक्ष्य इसी परिपूर्ण अवस्था को पाना है, मात्र स्वर्गलोक, ऊर्ध्वलोक और लोकान्तरों में गति अथवा कैवल्य या निरंजन भाव की प्राप्ति का पद पाना नहीं। मनुष्य मात्र ही इस अवस्था पाने को सक्षम है। यही तान्त्रिक संस्कृति का अवदान है।

षट्चक्र-भेदन

षट्चक्र के भेदन करने पर पूर्णत्व की प्राप्ति अवश्य ही होती है। यह धारणा बिल्कुल निर्मूल नहीं है, पर यह पूरी तरह सत्य है, यह भी नहीं कहा जा सकता। षट्चक्र-भेद एवं उसका मुख्य फल ज्ञात होने पर इस सम्बन्ध में शास्त्रों का यथार्थ सिद्धान्त ज्ञात हो सकता है। अत: यहाँ पर, षट्चक्र-भेद के प्रयोजन और उसकी प्रणाली के सम्बन्ध में निगूढ़ तत्व क्या है, विचारणीय है।

शिव अखण्ड सच्चिदानंद ब्रह्म स्वरूप हैं। उनकी इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति अभिन्न रूप से परम चैतन्य नाम से अभिहित होती है। वे नित्य लीलामय हैं एवं उनका 'पंचकृत्य' (सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह एवं अनुग्रह) सर्वत्र प्रसिद्ध है। पूर्ण पुरुष अपने को संकुचित कर अणु रूप में अथवा जीव रूप में

अपने को प्रकट करते हैं। तदुपरान्त अंशरूप चिदणु को मायिक देह से आवृत कर प्रकट करते हैं। ये चिदणु सृष्टि, स्थिति, संहार के आवर्त में रहते हैं। जब तक अपना आत्म स्वरूप अपरोक्ष रूप से ज्ञात न हो तब तक इस काल के आवर्त से अथवा सांसारिक, मायिक व्यापार के चक्कर से स्थायी रूप से निस्तार पाने का उपाय नहीं है। अणु रूपी जीव का मल परिपक्व होने पर पंचम् कृत्य परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है। वह जीव भाव त्याग कर शिवत्व की प्राप्ति करता है। इस प्रकार परमेश्वर के निग्रह से जीव का संसार शुरू होता है तथा परमेश्वर के अनुग्रह से संसार से सदा के लिये निवृत्त हो जाता है।

क्रम विकास के अनन्तर मनुष्य देह प्राप्त होता है। कर्तत्वाभिमान के प्रभाव से भोग शरीर ग्रहण करना पड़ता है। दीर्घकाल तक भोग सम्पन्न होने पर स्वभावतः वैराग्य उत्पन्न होने पर चित्त बहिर्मुखता का परित्याग कर अन्तर्मुख हो जाता है। तत्पश्चात् गुरु शक्ति जीव पर संचारित होती है, चाहे आचार्य देह रूप आधार के अवलम्बन पूर्वक अनुग्रह द्वारा ही हो अथवा निराधार अनुग्रह द्वारा। यही भगवत शक्ति का अनुग्रह व्यापार रहस्य है।

मनुष्य देह में गुरु शक्ति की क्रिया के प्रभाव से अणुरूपी जीव की शिवमय शक्ति सुप्तावस्था से जाग्रत् अवस्था में आती है एवं जीव के जीव भाव को क्रमशः शिव भाव में परिणत करती है। जीव भाव की निवृत्ति होकर शिव भाव का उदय ही षट्चक्र-भेदन का रहस्य है। शिव की शक्ति चिद्रूपा होने पर भी जीव देह में वह मूलाधार कुण्ड में अचिद् रूप से सोई हुयी है, एवं जीव को अपने शिव स्वरूप का अनुभव नहीं करने देती। स्वरूप का आवरण तथा असत्य परकीय रूप का ग्रहण इसके कार्य हैं। शक्ति के जाग्रत् होने पर क्रम से मनुष्य का चित्त वृत्ति स्थिरा निरालम्बम् अवस्था प्राप्त करता है। इसी को अचित् शक्ति से चित् शक्ति का पुनरुत्थान जानना चाहिये। योगी का पहला कार्य है कि जिस किसी भी प्रक्रिया द्वारा प्राण और मन को संयुक्त करे। इस अवस्था में चित्शक्ति, मन, प्राण तीनों वस्तुयें पृथक् न रह कर एक शक्ति के रूप में परिणत होती हैं। इसके प्रभाव से षट्चक्रों की पचास मात्रायें नाद रूप में परिणत होकर क्रमशः एक बिन्दु में स्थित होती हैं। यही बिन्दु भ्रूमध्य में स्थित तृतीय नेत्र रूप बिन्दु है। इसका स्थान आज्ञाचक्र के ऊपर है। इस नेत्र के उन्मीलन को आज्ञा चक्र का उन्मीलन कहा जाता है। यह मूल में गुरु शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होता है एवं साधक के प्राण, मन एवं कुण्डलिनी इसके सहयोगी हैं। तृतीय नेत्र के उन्मीलित होने अथवा आज्ञा चक्र के खुल जाने पर जीव शिव रूप धारण करता है। इस प्रकाश का उदय एवं काशी मृत्यु समानार्थक है अर्थात् काशी में देह त्याग करने पर शिवत्व की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में कर्मों का शेष होता है, अहंकार की निवृत्ति होती है, देहात्मभाव हट

जाता है तथा अप्राकृत स्वरूप में स्थिति होती है। इस अवस्था से पार होने पर ही यथार्थ उपासना का कार्य हो सकता है क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि

"नाशिवस्य शिवोपास्तिर्घटते कल्प कोटिभिः।" अर्थात् यदि शिव की उपासना करनी है तो पहले स्वयं शिव होना चाहिये।

षट्चक्र-भेदन की परिणति

षट्चक्र-भेद न होने तक देहात्मबोध की निवृत्ति नहीं होती। अध्यात्म राज्य में प्रगति प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम अहंभाव को स्थूल अनात्मभाव से मुक्त करना होगा। तृतीय नेत्र अथवा ज्ञान चक्षु का उन्मीलन ही देह से मुक्त होने का पहला परिचय है। ज्ञान चक्षु अथवा प्रज्ञा चक्षु का उन्मीलन भौंहों के मध्य कुछ ऊपरी भाग में होता है। इस अवस्था में साधक पचास वर्ण और उनसे उद्भूत नाद का अतिक्रमण कर विकल्पशून्य एक विशुद्ध ज्योति को प्राप्त होता है। यह ज्योति ही बिन्दु है, जिसे भेद कर व्यष्टि जगत् से समष्टि जगत् में प्रवेश करना पड़ता है। व्यष्टि से तात्पर्य पिण्ड देह तथा समष्टि से तात्पर्य ब्रह्माण्ड का बोध है। इसी प्रकार असंख्य ब्रह्माण्डों के समुदाय को महासमष्टि के अन्तर्गत जाना जाता है। समष्टि अर्थात् ज्ञान राज्य से निष्क्रमण और महाज्ञान राज्य में प्रवेश, ब्रह्माण्ड पुरुष के ज्ञान नेत्र का उन्मीलन है। इस नेत्र के उन्मीलन के पश्चात् ही महाज्ञान राज्य (महासमष्टि) में प्रवेश सम्भव होता है। यहाँ तक अज्ञान का खेल पूर्ण रूप से विद्यमान है। हाँ व्यष्टि के अज्ञान से समष्टि का अज्ञान सूक्ष्म होता है एवं समष्टि के अज्ञान से महासमष्टि का अज्ञान और सूक्ष्म होता है। किन्तु सूक्ष्म होने पर भी अज्ञान अज्ञान ही है। महासमष्टि का अतिक्रमण होने पर जो ज्ञान का विकास होता है, वही पूर्ण ज्ञान है। इस परम राज्य में प्रवेश करने का जो द्वार है, उसका नाम भ्रमरगुहा है। भ्रमरगुहा चरम शून्य के बाद एवं पूर्ण सत्य के पहले अर्थात् दोनों के सन्धि स्थान में स्थित है। भ्रमरगुहा का भेद हो जाने पर वास्तविक सत्य राज्य में प्रवेश हो जाता है। व्यष्टि, समष्टि, महासमष्टि सभी काल राज्य तथा काल के नियंत्रण के अधीन हैं किन्तु सत्य राज्य यथार्थ गुरु राज्य है। काल के राज्य में मन और माया का खेल रहेगा ही। गुरु राज्य में रात-दिन नहीं, सृष्टि-संहार नहीं तथा चित्-अचित् का विभाग भी नहीं है। गुरु राज्य वास्तविक स्वराज है, प्रेम का राज्य है, महाकरुणा का राज्य है। इस गुरु राज्य के भी अनन्त वैशिष्ट्य हैं।

विश्व सृष्टि का आधार परमशिव

परमात्मा से बहिर्मुख होने पर अविद्या के अवलम्बन द्वारा जीव भाव धारण कर मनुष्य भाव प्राप्ति प्रथम यात्रा है। तत्पश्चात् मनुष्य भाव में ज्ञान प्राप्ति द्वारा अविद्या निवृत्ति होकर निज स्वभाव या परमात्म भाव की प्राप्ति दूसरी यात्रा के

रूप में जानी जाती है। इस सम्बन्ध में अध्यात्म साहित्य में सर्वत्र चर्चा की गयी है। परमात्मा अज्ञान ग्रहण करते हैं, जीव भाव धारण करते हैं एवं अन्त में मनुष्य शरीर धारण करते हैं। आवरण हटने के साथ-साथ क्रम से देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि की प्राकृत सत्ता से अहंबोध दूर हो जाता है। चरम स्थिति में वह अहं शून्य होकर अपने आप ही प्रकाश करता है।

दूसरी यात्रा के बाद यत्र-तत्र तीसरी यात्रा का उल्लेख मिलता है। यह यात्रा स्वरूप में प्रविष्ट होने पर परम अव्यक्त की ओर यात्रा है। यद्यपि यह अत्यन्त गुह्य तत्व है तथापि हमारे अध्यात्म शास्त्र इस तीसरी यात्रा का पता देने से चूके नहीं। आगम शास्त्रों में परमशिव की अवस्था ही पूर्णता की परिचायक चरम अवस्था मानी गयी है। इसी अवस्था में शिव और शक्ति का सामरस्य या साम्य प्रकट होला है। शक्ति के स्फुरण से ही विश्व का उदय होता है तथा विश्व की स्थिति और लय भी स्फुरण से होते हैं।

ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है, यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है। पूर्ण तत्व की जो गम्भीरतम स्थिति है, वहाँ सत्, चित् और आनन्द कल्पित नहीं हो सकते। इस गम्भीरतम सन्मात्र की स्थिति में ही आत्म प्रकाश रूप में इन्हीं की एक कला या शक्ति निकलती है जिसका तन्त्र शास्त्रों में चित् शक्ति के नाम से उल्लेख किया है। यह जब अपने अभिमुख होता है तथा अनुकूल संवेदन के रूप में प्रकाशमान होता है तब यह आनन्द कहा जाता है। यह आनन्द ह्लादिनी शक्ति का स्वरूप है। चित् अवस्था में अनुकूल प्रतिकूल भाव नहीं रहते, किन्तु आनन्दावस्था नित्य अनुकूल भाव मय है, इसमें प्रतिकूल भाव नहीं है। चित् सत्ता में एक ही एक है, दूसरा कोई नहीं है किन्तु आनन्द सत्ता में एक ही द्वितीय का स्वांग रचकर अपने साथ स्वयं खेल करता है। यह सृष्टि की पूर्वावस्था है। यही आत्मरमण एवं आत्माराम की अवस्था है, जिसका आस्वादन ब्रह्मवेत्ता करते हैं।

जैसे फुहारे से जल कण निरन्तर छलक कर निकलते हैं, वैसे ही इस आनन्द रूप स्रोत से निरन्तर आनन्द के कण छलककर बाहर की ओर दौड़ रहे हैं। आनन्द के सूक्ष्म कण आनन्द के मूल उद्गम स्थान से निकलते ही एक आवरण से आच्छन्न हो पड़ते हैं एवं अपने मूल स्वरूप आनन्द सत्ता का अनुभव नहीं कर सकते। यह खोया हुआ धन इच्छा का विषयीभूत आनन्द है, अन्य कुछ नहीं। जब तक आनन्द नहीं मिलता अन्वेषण का विराम नहीं, इसीलिये इच्छा की भी तृप्ति नहीं होती और पूर्णत्व की प्राप्ति भी नहीं होती।

ज्ञेय पदार्थ ज्ञान से पृथक् नहीं है, अविद्यावश पृथक् प्रतीत होता है। किन्तु अविद्या की निवृत्ति होने पर वह ज्ञान से भिन्न प्रतीत नहीं होता है। अविद्या के प्रभाववश ज्ञान से ज्ञेय की पृथक् सत्ता प्रतीत होती है, यह शास्त्रानुसार क्रिया शक्ति

का नामान्तर है। इस क्रिया शक्ति के प्रभाव से ज्ञान से ज्ञेय पृथक् हो जाता है। क्रिया शक्ति का खेल पूर्ण होने पर क्रिया की निवृत्ति हो जाती है। क्रिया शक्ति की पूर्णता के साथ ही साथ बहिर्मुख धारा का अन्त हो जाता है एवं उस समय स्वभावतः ही अन्तर्मुख धारा की अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रवृत्ति की धारा जब इस बार निवृत्ति की धारा में परिणत हुई, तब वे सब पृथक्-पृथक् अवभासित हो रहीं शक्तियाँ या कलायें स्पन्दवश एकीभूत होकर समष्टि भाव को प्राप्त होती हैं, जिनका नाम पड़ता है बिन्दु। यह बिन्दु सम्पूर्ण कलाओं या शक्तियों की एकीभूत अवस्था का नामान्तर है। बिन्दु की अभिव्यक्ति होने पर (यह स्वभावतः ही चित् शक्ति है), उसका आश्रय लेकर ही सब कुछ प्रकाशित होता है।

हम अनन्त भुवनों या समग्र विश्व को सृष्टि समझते हैं। अहं भाव से इदं भाव का उदय हुये बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब इस पूर्णाहं से स्वातंत्र्यवश इदं भाव का प्रथम विकास होता है, तभी विश्व सृष्टि की सूचना समझनी चाहिये। किन्तु इस इदं भाव के आविर्भाव के पहले एक अहं ही अनन्त अहं रूपों में अपने को प्रकट करता है। इसके बाद इदं भाव का स्फुरण होने पर सर्वप्रथम सर्वशून्य रूप परमाकाश का आविर्भाव होता है, एवं उसका आश्रयकर वह अनन्त अहं द्वितीय रूप में प्रकट होता है। यह इदं सृष्टि है। यह महासमष्टि रूप है, उस समय भी काल का आविर्भाव नहीं हुआ। काल का पूर्वाभास महाकाल में ही पाया जाता है। इसलिये इस सृष्टि में भी वास्तविक क्रम नहीं है। एक अन्तःक्रम है सही, परन्तु वह वस्तुतः क्रम नहीं है। इसलिये उस समय अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीनों कालों की क्रिया नहीं रहती। प्रचलित कार्य कारण भाव भी नहीं रहता। हाँ, अनन्त विचित्रता रहती है। सब सत्ताओं में ही सब सत्तायें अनुस्यूत रहती हैं। देशगत भेद नहीं रहता, पर एक प्रकार का भेद केवल प्रतिभासमान रहता है। इसके पश्चात् उस महासृष्टि से खण्ड सृष्टियों का आविर्भाव होता है। वे ही ऐश्वरिक सृष्टियाँ हैं। समष्टि सृष्टियाँ और व्यष्टि सृष्टियाँ इन्हीं के अन्तर्गत हैं। महासमष्टि सृष्टि, इससे कुछ भिन्न है। महासमष्टि सृष्टि में समष्टि सृष्टि के तुल्य कर्म, जन्म, मृत्यु, सृष्टि, प्रलय आदि व्यापार नहीं होते।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया उससे समझ में आ जायगा कि प्रचलित धारणा के अनुसार विश्व सृष्टि परमशिव से ही होती है। यह युक्ति युक्त धारणा है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु वास्तव में परमशिव तत्व की जानकारी हो जाने पर उसके मध्यवर्ती अवस्था का भी ज्ञान होना आवश्यक है। इस अत्यन्त गुप्त रहस्य का मानव भाषा द्वारा प्रकाश नहीं हो सकता।

❋

२

सर्वमुक्ति एवं नवमुण्डी आसन

पंचमुण्डी आसन की चर्चा तन्त्रशास्त्र में थोड़ी बहुत दृष्टिगोचर होती है। श्री रामकृष्ण परमहंस, साधक रामप्रसाद, साधक कमलाकान्त आदि ने पंचमुण्डी आसन पर बैठकर साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। इस आसन से जन साधारण अपरिचित नहीं है। पर यह सत्य है कि सामान्यतया आसन रहस्य न जानने पर भी अनेक लोग पंचमुण्डी आसन के माहात्म्य को भलीभाँति जानते हैं। आसन तत्व का रहस्य जानना गम्भीर होने पर भी, योगी के लिये आवश्यक है। परमाराध्यपाद श्री श्री विशुद्धानंद परमहंस देव द्वारा काशी धाम स्थित अपने आश्रम में श्री श्री नवमुण्डी महासन की स्थापना के उपरान्त, इस आसन का नाम चारों तरफ प्रसारित हुआ। परन्तु नवमुण्डी आसन का पंचमुण्डी आसन के साथ क्या सम्बन्ध है, यह जटिल प्रश्न अभी भी दुर्बोध्य है।

परमहंस देव ने आलोचना के सिलसिले में एक दिन कहा था, ''चालीस वर्ष से भी अधिक समय के कठोर परिश्रम के बाद आज हम इस महासन की स्थापना में समर्थ हुये हैं। श्री काशी धाम ज्ञान क्षेत्र है, इसलिये इसी क्षेत्र में महाविज्ञान का केन्द्र स्वरूप यह महासन स्थापित हुआ। संकल्पित विज्ञान मन्दिर की कार्यकारिणी शक्ति का मूल स्रोत यही महासन है। इसकी शक्ति असीम है। यह क्रमशः फैलकर समय आने पर विश्व को व्याप्त करेगा। विज्ञानों की अर्थात् सूर्य विज्ञान आदि सब विज्ञानों की सफलता के सम्बन्ध में अब कोई सन्देह रहा नहीं।'' नवमुण्डी आसन परम पवित्र और महनीय है। इसका तत्व इतना गुह्य है कि साधारणतः इसके सम्बन्ध में परमहंस देव किसी से विशेष कुछ न कहते थे। लौकिक कामनाओं की सिद्धि का असाधारण सामर्थ्य इसमें है, यह वे कहते थे, किन्तु लोकोत्तर परमसिद्धि के मूल में यही एक मात्र महाशक्ति के रूप में कार्य करती है एवं करेगी, यह वे विशेष अन्तरंग भक्तों के सिवा और किसी से भी अभिव्यक्त नहीं करते थे।

साधारणतया, कुशासन, कम्बल, गलीचा, व्याघ्रचर्म, सिंहचर्म आदि बहुत से बाहरी आसन साधक समाज में प्रचलित हैं। आगम में वर्णित छत्तीस तत्वों का भेद कर जब तक इनके ऊपर उठा न जा सके, तब तक विश्व का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। हम लोगों का जिस जगत् के साथ परिचय है, वह ब्रह्माण्ड के

अन्तर्गत है। इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। बाहरी जगत् में जैसे ब्रह्माण्ड है, वैसे ही मनुष्य के देह रूप अन्तर्जगत् में भी ब्रह्माण्ड है, अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों स्तरों की बनावट एक ही प्रकार की है। जो योगी अपनी देह की ब्रह्माण्ड के रूप में धारणा कर सकते हैं एवं इस धारणा से अपने को ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता के रूप में पहचान सकते हैं, तब वह ब्रह्मा के समकक्ष होते हैं। इस अवस्था में योगी का पद ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ के पद से साम्ययुक्त होता है। किन्तु जो योगी अपनी चैतन्य सत्ता को ब्रह्माण्ड के तादात्म्य सम्बन्ध से छिन्न कर ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण करने अथवा भेद करने में समर्थ होते हैं तथा ब्रह्माण्ड का त्याग नहीं करते, किन्तु अपने साथ युक्त कर रखते हैं, वह असाधारण और उत्कृष्ट योगी हैं। ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित चैतन्य के ब्रह्माण्ड के निष्क्रान्त होने पर ही समग्र ब्रह्माण्ड तत्व शव रूप में परिणत होता है। इस ब्रह्माण्ड के ऊपर जो योगी अधिष्ठित हैं, वह ब्रह्माण्ड के भी अतीत हैं। वह ब्रह्माण्ड रूपी अपनी काया को शव रूप में परिणत कर उसके ऊपर स्वयं आसीन होकर ध्यान में मग्न होते हैं। ब्रह्मा तब प्रेत है और ब्रह्मा का शरीर आसन होता है। वास्तव में इसी आसन का नाम एकमुण्डी आसन है। ब्रह्माण्ड के बाहर अथवा ऊपर और भी विशाल अण्ड विद्यमान हैं, वह प्रकृत्यण्ड है। वास्तव में इस विशाल प्रकृत्यण्ड में, ब्रह्माण्ड बालू के कणों की तरह तैर रहे हैं। जो योगी अपनी देह को प्रकृत्यण्ड के साथ अभिन्न रूप से ग्रहण करने में समर्थ होते हैं एवं उसके फलस्वरूप अपने को प्रकृत्यण्ड के अभिमानी विष्णु से अभिन्न मानते हैं, इस योगी को द्विमुण्डी साधक आसन योगी कहा जा सकता है। ब्रह्माण्ड भेदी योगी से प्रकृत्यण्ड भेदी योगी का स्थान बहुत ऊपर है। चौबीस तत्व इस योगी को आयत्त रहते हैं एवं योगी के संकल्प के अनुसार इन सब तत्वों का परिणाम रहता है।

अण्डों में प्रकृत्यण्ड ही अन्तिम नहीं है। प्रकृत्यण्ड भी वस्तुतः एक नहीं है। मायाण्ड के अन्तर्गत असंख्य प्रकृत्यण्ड हैं और प्रत्येक प्रकृत्यण्ड के अन्तर्गत असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। माया अण्डाकार से सब प्रकृत्यों को वेष्टित कर उनके मूल उपादान, भित्ति एवं वेष्टन प्राचीर के रूप में विद्यमान रहती है। माया का घेरा अत्यन्त विशाल है, यह तपोमय, अविद्यामय और दुर्भेद्य है। मायाराज्य एक विशाल कारागार है। इसके बाहर गये बिना मुक्ति का आस्वाद नहीं पाया जा सकता। माया का प्रधान लक्षण भेद ज्ञान है। सर्वत्र ही यह भेद ज्ञान जाग्रत् रहता है। माया मुख्य रूप से स्वरूप शक्ति को आवृत रखती है। आत्मा सर्वज्ञ है किन्तु यह सर्वज्ञत्व परिच्छिन्न होकर लीलाभूमि में अल्पज्ञत्व के रूप में परिणत होता है। इसीलिये पशुपति शिव सर्वज्ञ होते हुये भी अभिनय स्थल में अल्प कर्तृत्व के रूप में प्रकट होते हैं। माया के जिस अंग द्वारा इस प्रकार का परिच्छिन्न

भाव प्रकट होता है, उसे कला कहते हैं। आत्मा अभाव और सब आकांक्षाओं से रहित है, इसलिये उन्हें आत्मकाम कहा जाता है। उनकी कोई कामना अपूर्ण नहीं है, किन्तु इस नित्य तृप्त अवस्था में अभिनय भूमि में प्रवेश नहीं किया जा सकता। इसलिये उनमें अतृप्ति न रहने पर भी वे क्रीड़ा के लिये अपने कृत्रिम अतृप्ति की रचना कर लेते हैं। माया की जिस शक्ति द्वारा यह कार्य निष्पन्न होता है उसे राग कहते हैं। इस प्रकार जो स्वभाव से परमेश्वर अथवा परमात्मा थे, वे माया की खोल से आवृत होकर जीव या पुरुष के रूप में परिणत होते हैं। अतः आत्मा या भगवान् ने ही अपने को संकुचित कर और माया के द्वारा आच्छन्न कर पुरुष रूप या जीव रूप ग्रहण किया है, यह सत्य है। प्रगतिशील योगी ब्रह्म भूमि और विष्णु भूमि से ऊपर चढ़कर एवं दोनों भूमियों को शवाधार श्मशान भूमि में परिणत कर स्वयं रुद्र अवस्था प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त मायाण्ड का भेद कर इस अण्ड को भी पूर्वोक्त दो अर्थों के सदृश शव रूप में परिणत करते हैं एवं उसी शव रूप आसन के ऊपर मायातीत चैतन्य सत्ता रूप में स्वयं अधिष्ठान करते हैं, तब वह अति श्रेष्ठ योगी होते हैं। उनका त्रिमुण्डी आसन योगी के रूप में वर्णन किया जा सकता है। समग्र माया इस योगी की संकल्प शक्ति के अधीन होती है।

माया राज्य के ऊपर चिन्मय, शुद्ध सत्वमय, आनन्दमय, कालातीत विशुद्ध महामाया राज्य है। यह अण्ड अत्यन्त विशाल है। मायाण्ड चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो, वह इस ज्योतिर्मय महान् अण्ड के एक छोटे से कोने में स्थित है। यह वृहत्तम अण्ड शाक्ताण्ड के रूप में शास्त्रों में वर्णित है। इस शाक्ताण्ड के भीतर स्वरूपतः कोई विभाग न रहने पर भी परस्पर मिलित दो विभागों की कल्पना की गयी है। एक के अधिष्ठाता ईश्वर हैं एवं दूसरे के अधिष्ठाता सदाशिव हैं। ईश्वर परमेश्वर की तिरोधान शक्ति के प्रतिनिधि स्वरूप हैं एवं सदाशिव उनकी अनुग्रह शक्ति के प्रतीक हैं। प्रभु के मुख्य कृत्य निग्रह और अनुग्रह इसी शाक्ताण्ड में होते हैं। ईश्वर आत्म दृष्टि के निमेष रूप तथा सदाशिव आत्म दृष्टि के उन्मेष रूप हैं। जो बायें हाथ से धक्का देकर अन्धकारमय कर्म प्रधान दुःख प्रचुर माया राज्य में डालते हैं, वे ही फिर दाहिने हाथ से चैतन्य शक्ति के उन्मेष द्वारा दुःख और अज्ञान से ज्योतिर्मय और आनन्दमय चिद् राज्य में खींचते हैं। इसलिये ईश्वर और सदाशिव शाक्ताण्ड के अधिष्ठाता की ही बहिर्मुख और अन्तर्मुख दो मूर्तियाँ हैं। दिव्ययोगी माया भेद करने के बाद शाक्ताण्ड में प्रविष्टि पाकर ईश्वर और सदाशिव दशा में पहले पहुँचते हैं। तब, सारा शाक्ताण्ड ही उनकी काया के रूप में कल्पित होता है। वस्तुतः अनन्त कोटि प्रकृत्यण्ड तथा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों से युक्त सम्पूर्ण माया राज्य इस महान् काय के एक अंग के एक अणु प्रदेश में स्थित है।

तब योगी समान रूप से निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ होते हैं, ईश्वर और सदाशिव के रूप में। किन्तु महाशक्ति की ओर जिनकी दृष्टि आकृष्ट हुयी है, उसके लिये शाक्ताण्ड का भी अतिक्रमण करना आवश्यक है क्योंकि ईश्वर और सदाशिव सम्पूर्ण मायिक जगत् के परम अधिष्ठाता होने पर भी पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा नियंत्रित है। वे परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप में ही अपना काम करते हैं। इसलिये योगी को अपने शाक्ताण्ड रूप महत्तम काय को भी शव रूप में परिणत करना पड़ता है। तब ईश्वर और सदाशिव दोनों ही निष्क्रिय शव रूप में कल्पित होते हैं। यही पंचमुण्डी आसन है। पंचमुण्डी आसन वास्तव में सदाशिव का आसन है। उनकी छाती पर खड़ा माँ का जो काली रूप है, वही वस्तुतः इस आसन पर आसीन है। साधक उनके चरणों में स्थान प्राप्त करते हैं।

सदाशिव तक ही साकार विश्व की सीमा है। साकार जगत् का भेद कर निराकार शक्ति राज्य में प्रवेश करना चाहिये। सृष्टि और प्रलय साकार में ही हो सकते हैं। सदाशिव का देहावसान होने पर जिस प्रलय का उदय होता है, वही सबसे विशाल प्रलय है। सदाशिव के राज्य के बाद फिर साकार राज्य नहीं रहता। तब निराकार शक्ति राज्य में प्रवेश होता है। साकार विश्व का सम्पूर्ण कार्य सम्पादित करने के लिये ब्रह्मा से सदाशिव पर्यन्त पाँच कारणों की नियुक्ति की गयी है। ये अधिकारी पुरुष शक्ति राज्य में प्रवेश नहीं कर पाते हैं। शक्ति राज्य के आरम्भ में ही बिन्दु मण्डल का भेद करना आवश्यक होता है। बिन्दु मण्डल में बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिका ये तीन स्तर हैं। बिन्दु में प्रविष्ट होकर अर्धचन्द्र के बीच से निरोधिका कला तक जाने के साथ ही साथ इनका आगे बढ़ना बन्द हो जाता है। रोधिनी शक्ति की क्रिया इनको आगे बढ़ने नहीं देती। इसलिये ये सब अधिकारी पुरुष आदि सृष्टि के मूल स्थान-पर्यन्त नहीं जा सकते। जब तक प्रलय राज्य का अतिक्रमण न किया जा सके, तब तक अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार दुर्घट है। अक्षर ब्रह्म ही परमात्मा शिव है। बिन्दु राज्य के ऊपर नाद, शक्ति और उन्मना रहते हैं। नाद के स्तर में नाद और नादान्त एवं शक्ति के स्तर में शक्ति, व्यापिनी और समना अन्तर्गत है, यह ध्यान रखना चाहिये। समना तक मन है, उसके बाद मन का अस्तित्व खोजकर भी पाया नहीं जाता। इस अवस्था का नाम महाशून्य रूपी उन्मना अवस्था है। यह अत्यन्त कठिन स्थान है, क्योंकि साधारण किसी उपाय से इस महाशून्य का भेद नहीं किया जा सकता। एक मात्र विश्व जननी महाशक्ति के प्रसन्न होने पर उनके अनुग्रह से इसका भेद करना सम्भव परक है। इस स्थान पर मन नहीं है, प्राण नहीं है, काल नहीं है, देव-देवियाँ नहीं है, एवं पकड़ने-छूने के लिये कुछ नहीं है। निरोधिका शक्ति

की बाधा (रुकावट) का भेद कर इतने दूर आ सकने पर भी महाशून्य का भेद करना नहीं बनता। परन्तु महाशक्ति की कृपा रहने पर एक ओर जैसे रोधिनी कला मार्ग छोड़ देती है, दूसरी ओर वैसे ही पथहीन महाशून्य में भी पथ प्राप्त हो जाता है। तब सेतु रचना होती है तथा यात्री अनायास विश्व से विश्वातीत चित्‌शक्ति के राज्य में प्रवेश प्राप्त करते हैं।

पंचमुण्डी आसन का पंचम अंग महाप्रेत सदाशिव है। उन पर अधिष्ठित हैं अमा रूपिणी माँ काली। उसी तरह नवमुण्डी आसन के नवम् अंग परम शिव हैं। वे पंचप्रेत रूप आसन पर शयन अवस्था में विराजमान हैं। इन सुप्त परम शिव का आश्रयण कर उनकी अधिष्ठात्री महाशक्ति ललिता अपने को प्रकट करती है। ये सदाशिव प्रेत होकर आसन के रूप में परिणत हुये हैं। किन्तु परम शिव ने प्रेत के निद्रित होकर आसन का रूप धारण किया है। पंचमुण्डी आसन को कहा जाता है, माँ का चरण—माँ श्यामा है, किन्तु नवमुण्डी आसन को कहना चाहिये माँ की गोद—माँ हैं राजराजेश्वरी ललिता, श्री विद्या, जो समान रूप से उमा और दुर्गा का ही स्वरूप हैं। पंचमुण्डी आसन महाशून्य के इस पार है, किन्तु नवमुण्डी आसन महाशून्य के उस पार है। यही परम आसन है। यही वास्तविक माँ की गोद है। यहाँ जिन्हें स्थान की प्राप्ति होती है वही परम वस्तु है।

ब्रह्म के चित् अंश में अक्षर ब्रह्म है। वस्तुत: अक्षर ब्रह्म असंग, निर्गुण, निर्मल, मात्राहीन, शब्दहीन, विन्दु नाद कलाविहीन प्रणवाक्षर मात्रा है। पक्षान्तर में रसब्रह्म परमानन्द स्वरूप परम ब्रह्म है। अक्षर पुरुष का उस लीला में प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं है। इसलिये प्रकृति भाव लेकर पुरुष की उपासना करनी चाहिये तथा सन्तानभाव ग्रहण कर जननी की उपासना करनी चाहिये। जो भी हो, अक्षर पुरुष को भी अन्त में उस लीला में प्रवेश करना ही होगा, अन्यथा पूर्णत्व प्राप्त नहीं होगा। अक्षर पुरुष महाकारण मंच पर सोये है। अक्षर पुरुष कूटस्थ अथवा साक्षि चैतन्य हैं, ये सबके द्रष्टा हैं किन्तु इनको कोई नहीं देख सकता। ये सबके आत्म स्वरूप हैं। इनके दर्शन का नाम ही आत्म दर्शन है। किन्तु स्वभाव की विचित्र लीला से कूटस्थ पुरुष द्रष्टा होकर भी अब आत्म विस्मृत हैं। ये सबको देखते हैं पर अपने को नहीं देखते। जब ये निद्रा से जागेंगे तब स्वभावत: सभी को आत्म दर्शन होगा। प्रणव पुरुष रूप में इन्होंने बहुत होने का संकल्प लिया है, इसीलिये इनकी स्वरूप प्रतिष्ठा होने पर बहुतों को आत्म दर्शन होगा और स्वरूप प्रतिष्ठा होगी। कविराज जी के अखण्ड महायोग की यही आधार-शिला है। इसकी चर्चा अखण्ड महायोग पुस्तक में विस्तार से किया है।

प्रणव पुरुष अक्षर पुरुष की ही विभूति है, फिर भी दोनों में कुछ भेद हैं। अक्षर पुरुष मोह निद्रा में निद्रित है, उन्हें 'मैं' (अहम्) ऐसा अभिमान नहीं

है। वे निर्विकार कूटस्थ रूप में ही रहते हैं। मोह उनका शरीर नहीं है। किन्तु जो इस मोह से मोह में ही उत्थित होते हैं, वे प्रणव पुरुष हैं, वे मोह का अपने शरीर में वरण करते हैं। वे नेत्र खोल कर देखते हैं कि कहीं कुछ नहीं, चारो ओर अनन्त महाशून्य विराजमान रहता है। तब वे बहुत होने का संकल्प करते हैं—"मैं बहु रूप में अथवा विश्व रूप में, अर्थात् अनन्त रूपों में प्रकट होऊँ।" यहीं से तत्व सृष्टि का आरम्भ होता है। प्रणव पुरुष और उनकी इच्छा दोनों ही एक प्रकार से अक्षर पुरुष के प्रतिभास मात्र हैं। तात्विक दृष्टि से ये ही शिव शक्ति के रूप में परिणत हुये हैं। प्रणव पुरुष की अनन्त रूपों में फूट पड़ने की जो इच्छा है, वही विश्व सृष्टि का मूल कारण है। तत्व सृष्टि के पश्चात् सब तत्वों के संघटन के कारण अण्ड सृष्टि होती है। तब उस अण्ड के भीतर प्रणव पुरुष प्रविष्ट होते हैं, एवं अणु रूप में विचित्र देहों में अभिमानी बनकर, चौदह प्रकार की मौलिक सृष्टि का विस्तार करते हैं। वस्तुतः सृष्टि की धारायें अनन्त हैं। चौरासी लाख योनियाँ कहने से भी धाराओं की समाप्ति नहीं कही जा सकतीं। आश्चर्य की बात यह है कि इतनी बड़ी सृष्टि अक्षर पुरुष का स्वप्न दर्शन मात्र है। उनका स्वप्न दर्शन अथवा उनका मूलभूत आदिम अज्ञान (अनादि अज्ञान) जब तक निवृत्त नहीं होगा तब तक समग्र जगत् का सामूहिक रूप से आत्मदर्शन अर्थात् यथार्थ आत्मदर्शन असम्भव है।

यह विश्व कितना विशाल है, ब्रह्माण्ड से लेकर शाक्ताण्ड पर्यन्त इसका वर्णन किया जा चुका है। व्यापकता के दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो सदाशिव का राज्य अत्यन्त विशाल है, उसको एक प्रकार से विशालतम राज्य भी कहा जा सकता है। ब्रह्माण्ड का स्थितिकाल और ब्रह्मा का आयुकाल एक ही है। सत्य आदि चार युगों की समष्टि का नाम यदि एक महायुग है तो इकहत्तर महायुगों की समष्टि एक मनु का शासन काल है। क्रमशः एक के बाद एक चौदह मनु ब्रह्मा के एक दिन में शासन कार्य चलाते हैं। फलतः चौदह मनुओं के स्थिति काल की समष्टि ब्रह्मा का केवल एक दिन है। इसी तरह उनकी रात्रि भी है, जब समग्र सृष्टि लीन हो जाती है। इस प्रलय को कल्प प्रलय कहते हैं। ब्रह्मा की १०० वर्ष की आयु समाप्त होने पर उनका देह स्वरूप इस ब्रह्माण्ड का ध्वंस हो जाता है। इसी का नाम महाप्रलय है। कल्प प्रलय में त्रिलोकी का अवसान होता है। उसका कारण यह है कि उनका अन्तःकरण और इन्द्रिय संस्कार त्रिलोकी के उपादान से उत्पन्न है। किन्तु महाप्रलय में समग्र अण्ड और उसके आनुषंगिक रूप से सभी लोक माया में लीन हो जाते हैं। तब ब्रह्मा अधिकार रूपी मल से मुक्त होते हैं। ब्रह्माण्ड का नाश और ब्रह्मा का देह त्याग एक ही बात है। पर एक ब्रह्माण्ड का नाश होने पर भी दूसरे ब्रह्माण्ड रहते हैं। असंख्य ब्रह्माण्ड एक

साथ लीन नहीं हो सकते, उसका कोई प्रयोजन भी नहीं है। किन्तु जब असम्भव पर भी सम्भव होगा, तब फिर एक स्तर खुल जायगा, जिसका नाम प्रकृति स्तर है, जिसके अधिष्ठाता विष्णु हैं। ब्रह्मा की १०० वर्ष की आयु के बराबर विष्णु का एक दिन व्यतीत होता है। तदनुसार विष्णु की १०० वर्ष की आयु जाननी चाहिये। विष्णु का समग्र आयु काल रुद्र का केवल एक दिन है। किन्तु रुद्र भी १०० वर्ष की आयु धारण करते हैं। रुद्र का १०० वर्ष, ईश्वर का एक दिन है। उसी प्रकार ईश्वर भी अपने परिमाण के अनुसार १०० वर्ष जीवित रहते हैं। उसके अनन्तर वे भी ब्रह्मा आदि त्रिदेवों के तुल्य प्रेत अवस्था को प्राप्त होते हैं। ठीक इसी तरह सदाशिव की भी अवस्था होती है। सदाशिव के देह रूप विश्व के संकोच को प्राप्त होने पर क्रमशः पाँच प्रेतों का आविर्भाव होता है। यह अत्यन्त सुदीर्घ काल की बात है। स्वभाव के नियम के अनुसार इस पंचप्रेत अवस्था का उदय होता है। व्यापकतम देश और व्यापकतम काल का अभिनय यहाँ समाप्त हो जाता है।

किन्तु जो योगी अपने पौरुष बल से प्रत्येक स्तर का कर्म समाप्त कर उस स्तर के अधिष्ठाता का साम्य प्राप्त करते हैं एवं तदुपरान्त उसका अतिक्रमण कर उसे प्रेतासन के रूप में ग्रहण करते हैं, वे थोड़े ही दिनों में सुदीर्घ काल का कर्म समाप्त करने में समर्थ होते हैं। पाँच स्तरों के कर्म समाप्त होने पर एवं पंचमुण्डी आसन पर बैठ सकने पर क्रमशः विश्वातीत होकर परमशिव की ओर अग्रसर होने में समर्थ होते हैं। यही पंचमुण्डी आसन के कर्म का रहस्य है। स्वभाव के नियम से जिसके सुदीर्घ काल में होने की बात है, उसे उपाय तथा संवेग द्वारा थोड़े ही दिनों में सम्पन्न करना सम्भव है। किन्तु वह होने पर भी व्यक्तिगत कर्म है। यह कर्म माँ के एक प्रधान रूप के चरण का आश्रय कर पूर्ण करना पड़ता है। ये ही आद्या शक्ति हैं। महाशून्य का भेद भी इसी के अन्तर्गत है। इसके बाद नवमुण्डी आसन का कर्म परम शिव की वक्षःस्थल विलासिनी महाशक्ति के अंक का आश्रय कर होता है। ये ही ललिता, राजराजेश्वरी, त्रिपुर-सुन्दरी आदि त्रिविध नामों से वर्णित है। पंचमुण्डी आसन जैसे सदाशिव रूपी आसन है, वैसे ही नवमुण्डी आसन परम शिव रूपी आसन है। सदाशिव के वक्षःस्थल में महाशक्ति का जो रूप विद्यमान रहता है, उनका आश्रय कर पंचमुण्डी आसन कर्म होता है। वैसे ही परम शिव के हृदय में विहार करने वाली, महाशक्ति का आश्रय कर नवमुण्डी आसन का कार्य होता है।

पंचमुण्डी आसन विश्व के अतीत है, यह सत्य है, किन्तु यह विश्व पंच ब्रह्ममय कार्य विश्व है—चार अण्ड इसके अन्तर्गत है, यह विश्व की कारण सत्ता के अतीत नहीं है। नवमुण्डी आसन कारण समुद्र के, यहाँ तक कि महाकारण

समुद्र के भी अतीत हैं—वस्तुतः निद्रामग्न परम शिव तक इसका विस्तार है। पंचमुण्डी आसन के कर्म का लक्ष्य है महाशून्य अथवा उन्मना का भेद करना। किन्तु उससे भी परमात्मा की निद्रा भंग नहीं होती, उनका स्वप्न दर्शन बन्द नहीं होता एवं समग्र विश्व आत्म रूप में परिणत नहीं होता।

नवमुण्डी आसन कर्म के बिना परम शिव की निद्रा भंग नहीं हो सकती। विश्वमाया की निवृत्ति नहीं होती एवं सम्पूर्ण जगत् का वास्तविक कल्याण, जिससे अपनी भी परम कल्याण हो, नहीं हो सकता। श्री श्री परमहंस देव का प्रतिष्ठित आसन पूर्व वर्णित इस महासन का ही सजीव प्रतीक स्वरूप है। इस आसन का कर्म रहस्य अत्यन्त गहन है।

नवमुण्डी सिद्धासन बाबा ने अपने शिष्यों, भक्तों तथा जन कल्याण के लिये सम्बत् १९९१ फाल्गुन शुक्ल तदनुसार १४ फरवरी सन् १८३५ को अपनी ४० वर्षों की कठिन तपस्या के फल को अर्पित कर इसकी स्थापना की। सन् १९३२ में बाबा की मूर्ति इस आश्रम में स्थापित हुयी। सन् १८५३ ई० में अवतरित बाबा ने इस धराधाम पर १९३८ ई० के अन्तराल में विश्व को जो आध्यात्मिक प्रगति दी है, वह २१वीं शताब्दी में विश्व के रूपान्तरण का कार्य करेगी। जीवन काल में ही ज्ञानगंज में २० वर्षों की कठिन तपस्या के उपरान्त इस धरती पर जनहित का कार्य कर गुरु आज्ञा से अपना शरीर संकोच कर गुरु राज्य में कार्यरत हैं। व्यष्टि, समष्टि तथा महासमष्टि सभी काल के नियन्त्रण में हैं, किन्तु सत्य राज्य यथार्थ गुरु राज्य है, जो द्वन्द्वातीत है। वहाँ रात-दिन नहीं, सृष्टि संहार नहीं तथा चित्-अचित् का विभाजन नहीं—यही गुरु राज्य या वास्तविक स्वराज्य है।

३

अद्वय तत्व के विभिन्न रूप

आत्मा का स्वरूप चिदानन्दमय है, यह मानकर इस अभिन्न शक्ति का भी चित् शक्ति और आनन्द शक्ति के रूप में वर्णन किया जाता है। जिसके द्वारा शक्ति का आवरण होता है और विक्षेप का उदय होता है, वह शक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। चित् शक्ति को अभेद शक्ति के नाम से ग्रहण करने पर इस विपरीत शक्ति को भेद शक्ति कहा जाय तो असंगत न होगा। भेद शक्ति का प्रथम उन्मेष भेद ज्ञान के रूप में प्रकट होता है। सृष्टि विषयक ज्ञान इस भेद ज्ञान का ही नामान्तर है। इसी कारण इस सृष्टि को अज्ञान मूलक सृष्टि कहते हैं। जब ज्ञान शक्ति का उदय होता है तो उसके प्रभाव से यह आवरण अंश कट जाता है। ज्ञान शक्ति वस्तुतः चैतन्य शक्ति ही है। ज्ञान शक्ति यदि शक्ति न होती तो आवरण रूप अज्ञान शक्ति को अभिभूत न कर सकती। मृदु मात्रा में ज्ञान शक्ति का विकास होने से जो फल होता है, तीव्र मात्रा में उसका विकास होने पर पहले की अपेक्षा अधिक फल की प्राप्ति होती है। इन दो प्रकार के फलगत भेद में, पहला आत्मा के स्वरूपगत आवरण का अपसरण है और दूसरा उस अपसरण की अनुभूति है। ज्ञान की मात्रा के मृदु होने पर साधक का आवरण तो निवृत्त होता है, परन्तु वह उसे स्वयं अनुभव नहीं कर पाता। भूत शुद्धि और चित्त शुद्धि के अभाव के कारण आत्म ज्ञान प्राप्त करके भी साधक उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। मलिन देह (मल और वासना) और अन्तःकरण इस उपलब्धि के प्रतिबन्धक हैं। साधक चेष्टा द्वारा अथवा साधना द्वारा देह और मन को शुद्ध कर सके, तो गुरु प्रदत्त ज्ञान का सन्धान पा सकता है। परन्तु ज्ञान की मात्रा तीव्र रहने पर साधक के लिये यह साधना रूपी कर्म आवश्यक नहीं होता। परन्तु ऐसी अवस्था में ज्ञान तीव्र होने के कारण साधक के देह और मन उसे सहन नहीं कर सकते। ज्ञानाग्नि के प्रभाव से देह और मन दोनों ही दग्ध हो जाते हैं। साधक विशुद्ध ज्ञान की उपलब्धि के साथ-साथ विदेह अवस्था को प्राप्त होता है। अतएव तीव्र निर्विकल्प अवस्था के उदय होने पर देहपात अवश्यम्भावी हो जाता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान प्रारब्ध कर्म का भी ध्वंस कर देता है, ऐसा नहीं कि केवल संचित कर्म का ही नाश करे। यदि साधक के साधन रूपी स्वकृत कर्म सहायक हो, तो देहपात नहीं होता। इस अवस्था में कर्म की पूर्णता के साथ-साथ पूर्व

प्राप्त स्वरूप ज्ञान की अनुभूति होती है। फिर विक्षेप शक्ति की प्रतिबन्धकता नहीं रहती, परन्तु न रहने पर भी, विक्षेप शक्ति से जनित देह, ज्ञान के अधीन नहीं होती। यद्यपि प्रारब्ध कर्म के अनुभव की प्रतिबन्धकता कट तो जाती है तथापि उसका फल तिरोहित नहीं होता, अतएव देह का संग भी रहता है और उसके द्वारा साध्य भोगादि भी रहते हैं। परन्तु जब आत्म-ज्ञान की अनुभूति प्रतिष्ठित होती है तब देह जनित भोग होते हुये भी न होने के समान हो जाते हैं।

केवल ज्ञान के उदय से ही जीवन्मुक्ति नहीं होती। जीवन्मुक्ति के आस्वादन के लिये, उदित ज्ञान का बौद्धिक अनुभव भी आवश्यक है। वस्तुतः ज्ञान का उदय केवल आवरण निवृत्ति के रूप में ही पहले प्रकट होता है। उसके बाद सम्भव हो तो बुद्धि के द्वारा उसकी अनुभूति होती है। तब बुद्धि का आवरण कट जाता है। यही जीवन्मुक्त अवस्था है। विक्षेप शक्ति के पूर्ण तिरोहित होने पर, अर्थात् प्रारब्ध के आवरण में उससे उत्पन्न देह का परिहार होने पर ब्रह्म स्वरूप में स्थिति होती है। तब आवरण को दूर करने वाला यह ज्ञान पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त करता है। यह अवस्था ही शुद्ध आत्म स्वरूप में स्थिति प्राप्त करने की है। परन्तु यह पूर्णता नहीं है। शक्ति ने बहिर्मुख होकर भेद दृष्टि की अवतारणा की थी, जिसके मूल में स्वरूप का आवरण निहित था। परन्तु शक्ति की यह बाह्य प्रवणता अथवा बहिर्मुख गति केवल उसकी कार्यनिवृत्ति के साथ-साथ साम्य भाव को प्राप्त नहीं होती। सम मात्रा में अन्तर्मुखी गति के द्वारा उसका साम्य स्थापित करना होता है। ऐसा न करने पर प्रकृत स्थिति प्राप्त नहीं होती है। इसी कारण क्रिया शक्ति का उन्मेष और विकास आवश्यक है। यह क्रिया शक्ति साधारणतः गुरु शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह चित् शक्ति की क्रिया है। क्रिया शक्ति के क्रमिक विकास में अन्तर्मुखी गति प्रारम्भ होती है। यह गति मन, वायु और बिन्दु सबके अन्तराल में प्रवाहित होती है, इसमें सन्देह नहीं। शक्ति की बाह्य गति के फलस्वरूप जिस प्रकार सृष्टि होती है इस अन्तर्गति के परिणाम में भी उसी प्रकार सृष्टि होती है। पहली शक्ति जड़ शक्ति का कार्य है, परन्तु यह सृष्टि चैतन्य शक्ति का कार्य है। इस अन्तःशक्ति की क्रिया का एक बार सूत्रपात होने पर वह निरन्तर चलती रहती है। जब तक बहिःशक्ति के साथ यह साम्य प्राप्त नहीं कर लेती, तब तक इसकी निवृत्ति नहीं होती। जिस क्षेत्र में जितना बाह्य विकास होता है, उस क्षेत्र में उतना ही आन्तर विकास आवश्यक होता है। भीतर-बाहर समान होने पर दोनों गतियाँ एक दूसरे को अभिभूत करके एक अभिन्न गति के रूप में संचारित होती हैं परन्तु यह बहुत दूर की बात है।

क्रिया शक्ति क्रमशः चित् शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। चित्-

कला चैतन्य शक्ति की ही मात्रा है। चित्‌कला का विकास हुये बिना ज्ञान की विक्षेप शक्ति वशीभूत नहीं हो सकती, अर्थात् माया शक्ति को अधीन करने के लिये, महामाया शक्ति की साधना करनी पड़ती है। महामाया शक्ति की साधना क्रिया रूप गुरु शक्ति का ही क्रमिक विकास मात्र है। एक ही आत्मा जब बहिर्मुखी शक्ति से विशिष्ट होती है, तब उसकी परमात्मा के रूप में प्रसिद्धि होती है। दोनों में गति रूपी शक्ति का खेल होता रहता है। परन्तु जो गतिहीन अवस्था है, उसमें शक्ति का खेल नहीं होता, उस समय शक्ति अव्यक्त रहती है। इस अव्यक्त शक्ति में कोई धर्म नहीं रहता। बिन्दु रूपी आत्मा या ब्रह्म से शक्ति जाग्रत् होकर बहिर्मुख और अन्तर्मुख खेल करती है। बहिर्मुख खेल द्वारा बाह्य जगत् की उत्पत्ति होती है, यही जड़ जगत् है तथा आभ्यन्तर खेल के द्वारा अन्तर्जगत् या विश्व की उत्पत्ति होती है। दोनों जगत् जब साम्य भाव को प्राप्त होते हैं, तब अखण्ड मण्डलाकारत्व को प्राप्त होकर अनन्त विश्व का रूप धारण करते हैं।

क्रिया शक्ति के द्वारा, अर्थात् शक्ति की अन्तर्मुखी गति से देह में प्रवेश प्राप्त होता है। भेद ज्ञान अचित् शक्ति का कार्य है तथा अभेद दर्शन चित् शक्ति का कार्य है। अत: क्रियात्मिका गुरु शक्ति अभेद ज्ञान के रूप में कार्य करती है। यह अभेद ज्ञान पुष्ट होते-होते क्रमशः समस्त देह में व्याप्त हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में क्रिया शक्ति के द्वारा देह भेद नाम दिया जाता है। मन, प्राण और बिन्दु की अन्तर्मुखी गति अभेद ज्ञान का ही क्रमिक विकास है। इस ज्ञान का पूर्ण विकास होने पर, अर्थात् क्रिया शक्ति का कार्य सम्पन्न होने पर आत्मा की परमात्मा के रूप में स्थिति होती है और उसका व्यष्टि देह समष्टि देह रूप विश्व रूप में परिणत हो जाता है। इसको योगावस्था कहते हैं। क्रिया शक्ति के उन्मेष या कुण्डलिनी के जागरण से ही इस योगावस्था की सूचना मिलती है तथा क्रिया शक्ति की पूर्णता ही इसका पूर्ण विकास है। आत्मा में जब क्रिया शक्ति का पूर्ण विकास होता है, तब आत्मा परमात्मा के रूप में वर्णन करने योग्य हो जाता है। यह क्रिया शक्ति वस्तुत: चैतन्य शक्ति ही है, क्योंकि ज्ञान शक्ति पहले उपलब्ध हुयी है। ज्ञान शक्ति यदि पहले प्रस्फुटित न हो, तो क्रिया शक्ति का उन्मेष सम्भव नहीं होता। ज्ञान शक्ति के विकास से द्रष्टा या साक्षिभाव का आविर्भाव होता है। इस साक्षिभाव के साथ क्रिया शक्ति का विकास न हो, तो आत्मा क्रमशः परमात्मा की ओर अग्रसर नहीं हो सकती।

गुरु शक्ति रूपी क्रिया शक्ति क्रमशः देह भेद करती रहती है। सबसे पहले अज्ञान राज्य में, जो काल की प्रणाली में स्थापित है, प्रवेश प्राप्त होता है। इस राज्य में प्रविष्ट होकर क्रमशः अग्रसर होना क्रिया शक्ति का कार्य है। इस स्तर

में पड़े हुये अज्ञान राज्य का अतिक्रमण करने पर, काल की प्रणाली को पार करके ज्ञान राज्य में प्रवेश करना सम्भव हो जाता है। अणु के कर्म द्वारा अज्ञान राज्य को पार कर सकना सम्भव नहीं होता तथा उसके कारण ज्ञान राज्य में अग्रसर नहीं हुआ जाता, अतएव परमाणु का कार्य आवश्यक है। परमाणु परम पदार्थ का अंश होता है, वह नित्य और चिन्मय है। यही सृष्टिकाल में क्रमशः विभिन्न स्तरों का भेद करके अवत्तीर्ण होता है तथा मातृगर्भ में प्रविष्ट करता है। मातृगर्भ में विकास के पश्चात् बहिर्जगत् के साथ इसका योगायोग होने लगता है। जागतिक ज्ञान वृद्धि आदि व्यापार अणु के ही खेल हैं। दीक्षा के बिना चैतन्य शक्ति का सम्बन्ध परमाणु के साथ नहीं होता तथा परमाणु अपनी सुप्तवत अवस्था के हो जाने पर दीक्षा के बिना जाग्रत् नहीं होता। योग दीक्षा के समय शिष्य जो गुरु से चिन्मय शरीर प्राप्त करता है, उसे ही जाग्रत् कुण्डलिनी के नाम से पुकारते हैं। उसके संस्पर्श के द्वारा परमाणु कार्य विशिष्ट होकर कर्म करने में समर्थ होता है। परमाणु का कर्म ही यथार्थ क्रिया शक्ति है। धीरे-धीरे प्रयोजन के अनुसार क्रिया शक्ति का विकास होता है और उसके फलस्वरूप देह राज्य सिद्ध होता है। अयोगी साधक भी दीक्षा के फल से चैतन्य शक्ति प्राप्त करता है, परन्तु वह दीक्षा कायाकार में परिणत नहीं होती। अतएव साधक को कुण्डलिनी शक्ति ज्ञाग्रत् करनी पड़ती है। यह जागरण दीक्षा कालीन जाग्रत् आभास का पूर्ण विकास है। दोनों स्थानों में चैतन्य शक्ति के प्रभाव से परमाणु की ही क्रिया होती रहती है। अज्ञान राज्य का भेद करना और ज्ञान राज्य में अग्रसर होना, दोनों ही चैतन्य रूपी क्रिया शक्ति के कार्य हैं। दोनों राज्य देह के भीतर हैं। अज्ञान राज्य काल की सृष्टि है। परन्तु ज्ञान राज्य काल की सृष्टि होने पर भी काल की सीमा से परे है। यह ज्ञान राज्य वस्तुतः चैतन्य शक्ति की विशिष्ट रचना के द्वारा विभूषित है।

कर्म के प्रभाव से अज्ञान जगत् को पार करने पर एक शून्यावस्था का उदय होता है। उस समय काल की सीमा को पार करने के साथ आत्मबोध का स्फुरण होता है और चैतन्य शक्ति क्रमशः ज्ञान राज्य की सृष्टि करके और उसे भेद करके अग्रसर होती है। अज्ञान जगत् को पार किये बिना, ज्ञान जगत् में अग्रसर होने की सम्भावना नहीं है तथा चैतन्य शक्ति की सहायता पाये बिना देह भेद असम्भव होने के कारण स्वदेह विश्वदेह के रूप में परिणत नहीं हो सकता। इन्द्रिय के स्तर से शून्य में प्रवेश करने के लिये विराट माया जाल का भेद करना पड़ता है। मृत्यु के पश्चात् इस जाल का भेदन असम्भव है, क्योंकि असाधक अयोगी के परमाणु कर्महीन होने के कारण इस जाल का भेदन नहीं कर सकते। जाग्रत् अवस्था में गुरु प्रदत्त काया में कर्म के द्वारा यह जाल भेद करना पड़ता है। दीक्षा के बाद कुछ भी

कर्म न करने पर भी केवल गुरु शक्ति के प्रभाव से ही उसका भेद हो जाता है। गुरु शक्ति का मुख्य कार्य है जीव को मोहमाया जाल से उठाकर ज्ञान के राज्य में पहुँचा देना। अज्ञान राज्य को पार करने के बाद जब शून्य में प्रवेश हो जाता है, तब देखने में आता है कि उसके आवरण रूप में जो दीवार खड़ी थी, उसमें असंख्य द्वार अथवा छिद्र विद्यमान हैं। जब शून्य ज्योति में उद्भासित होता है तब क्रमश: चारों दिशाओं के सहस्त्रों द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं और ऊपर की ओर एक नया द्वार खुल जाता है। यह द्वार पहले से प्रकाशित नहीं होता। अधोद्वार की क्रिया रुद्ध हुये बिना इसकी आविर्भूति नहीं होती। इस अभ्यन्तरीण राज्य से ऊर्ध्वद्वार के द्वारा ही निकला जाता है।

अन्तर्मुखी क्रिया शक्ति द्वारा, अन्तर्गति और बहिर्गति में साम्य हो जाता है तब देह भेद सिद्ध होता है। अन्तर्मुखी क्रिया के प्रभाव से पिण्डगत देह विश्व रूप में परिणत होता है। अत: देह भेद ही विश्व भेद है। विश्व भेद के बाद भाव राज्य में प्रविष्ट हुआ जाता है। विश्वातीत भाव देह साकार न होते हुये भी साकार तथा साकार होकर भी निराकार है। भाव राज्य के परे हो जाने पर जो भावातीत परम गुह्य सत्ता प्राप्त होती है, वही निजस्व-मन है।

क्रिया शक्ति का विकास तथा परमात्म भाव की अभिव्यक्ति एक ही बात है। क्रिया शक्ति के उन्मेष के साथ जो अन्तर्मुखी गति प्रारम्भ होती है, क्रिया शक्ति की पूर्णता होने पर परमात्म रूप से हृदय में स्थित हो जाने पर वह समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में आकर्षण विकर्षण की क्रिया नहीं रहती। यह द्वन्द्वातीत अवस्था है। आत्मा जिस परिमाण में क्रिया शक्ति का विकास करता है उस परिमाण में वह परमात्मा के समीप हो जाता है तथा उसी परिमाण में उसकी योगभूमि उत्कर्ष प्राप्त कर लेती है। क्रिया शक्ति के उन्मेष के पहले योगभूमि की प्राप्ति नहीं होती है तथा क्रिया शक्ति की पूर्णता के बाद भी योगभूमि नहीं रहती। बीच में एक-एक करके भूमि का भेद किया जाता है तथा क्रमश: सोपान परम्परा के समान निम्न से ऊर्ध्वभूमि प्राप्त होती है। योगभूमि का परम उत्कर्ष ही परमात्मभूमि है।

परमात्मा और ईश्वर एक ही आत्मा की दो शक्तियुक्त अवस्थायें हैं। बहिर्मुखी माया शक्ति से युक्त आत्मा ईश्वर है। इसी के अंश से विशिष्ट आत्मा जीव है। माया भेद शक्ति है। इसी कारण ईश्वर और जीव परस्पर भिन्न हैं। अन्तर्मुखी क्रिया शक्ति का नाम महामाया है। इस शक्ति से विशिष्ट आत्मा ही परमात्मा है। इस महामाया के आंशिक विकास से सम्पन्न आत्मा ही मुक्त पुरुष है। जीव, ईश्वर का भिन्न अंश है। परन्तु मुक्त पुरुष परमात्मा का अभिन्न अंश है। अतएव मुक्त पुरुष ही क्रिया शक्ति के विकास के तारतम्य के अनुसार न्यूनाधिक योगी है। ईश्वर और परमात्मा एक ही वस्तु है। ईश्वर में ज्ञान शक्ति और क्रिया

शक्ति पूर्ण मात्रा में रहती है, परन्तु जिस शक्ति का वे प्रयोग करते हैं अर्थात् जिस शक्ति में अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं वह ज्ञान से विपरीत आवरण शक्ति तथा क्रिया से विपरीत विक्षेप शक्ति है। ये दोनों माया या अज्ञान शक्ति के रूप हैं। अन्तर्मुखी शक्ति के दो व्यापार देखने में आते हैं—१. साक्षिरूप में दृष्टि के द्वारा बहिर्मुखी शक्ति को संचालित करना, २. बहिर्मुखी शक्ति की क्रिया निवृत्ति की परावस्था में शून्यमय हृदय देश में अवस्थान करना। क्रिया शक्ति की पूर्णता पर जब आत्मा हृदय में प्रवेश करता है तब साक्षिभाव प्राप्त होने के कारण समस्त विश्व को द्रष्य रूप में देखता है। परन्तु द्रष्य, दृष्ट होने पर भी अप्राप्य रहते हैं। क्रिया के बिना केवल ज्ञान द्वारा उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं होती। ज्ञान के द्वारा जो सूक्ष्म रूप में दिखलाई देता है, क्रिया के द्वारा वही अपने साथ अभिन्न रूप में प्राप्त हो जाता है।

देह के भीतर जो (Space) अवकाश स्थान है, वह हृदय है, इसमें आलोक का आविर्भाव और आलोक के बीच घनीभूत आलोक या ज्योति का आविर्भाव तथा क्रमशः ज्योति का मण्डलाकार होना, एवं मण्डल में आकृति का आविर्भाव, इस प्रकार क्रमशः आकृति के पूर्ण रूप में प्रस्फुटित होने पर उसे रूप कहते हैं। ज्योतिर्मण्डल के मध्य की आकृति के क्रमशः पुष्ट होते-होते हृदय का तेजोमय आलोक और घनीभूत ज्योति इस रूप में परिणत होती है, अर्थात् यह रूप क्रमशः ज्योति और आलोक रूपी हृदयकोष के समस्त रस को खींच लेता है। यह अवस्था ही परमात्मभाव की पूर्णता है। परमात्मभाव के पूर्ण होने पर भगवत्कृपा प्राप्त होती है और ऊर्ध्वपथ से निकलना होता है। परमात्मभाव पर्यन्त भीतर-बाहर भेद रहता है। भीतर का राज्य जैसे-जैसे विकास को प्राप्त होता है, ठीक उसी परिमाण में बाहर का राज्य उसके अधीन हो जाता है। अन्तर के राज्य की पूर्ण परिणति तभी होती है, जब बाहर का राज्य उसके अन्तर्गत हो जाता है, साथ ही साथ एक परावस्था का उदय होता है। तब अन्दर व बाहर समान हो जाते हैं, परिणाम स्वरूप बाहर और अन्दर की विरुद्ध क्रिया शान्त हो जाती है। इस अवस्था में योगी समस्त जगत् के केन्द्र बिन्दु में प्रतिष्ठित होता है। उसके साथ किसी वस्तु का साक्षात् स्पर्श नहीं रहता। अतएव इस प्रकार का योगी सारी वस्तुओं के साथ अस्पर्श योग से युक्त होता है।

क्रिया शक्ति के क्रम विकास के समय चित्कला सम्पन्न योगी अपने को परमात्मा का उपासक तथा परमात्मा को अपना उपास्य जानकर क्रमशः उपासना के गाढ़तर होने पर कला वृद्धि के प्रभाव से अपने को परमात्मा का अधिकतर निकटवर्ती जानता है। यह उपासना हृदय के आभ्यन्तर परमात्म साक्षात्कार मूलक उपासना है।

शक्ति के उन्मेष से परमात्मा का ज्योतिर्मय राज्य ब्रह्म सत्ता के ऊपर स्तर-

स्तर में गठित होने लगता है। शक्ति का प्रथम उन्मेष ज्ञान शक्ति के रूप में होता है। ज्ञान शक्ति के साथ क्रिया शक्ति और इच्छा शक्ति का स्वरूपत: अभेद रहने पर भी विकास के पथ में गुण प्रधान भाव के अनुसार प्रत्येक का पार्थक्य निर्दिष्ट होता है। ज्ञान शक्ति के उन्मेष और विकास के सिद्ध होने पर क्रिया प्रभृति शक्तियों का आविर्भाव क्रमश: सम्भव होता है। क्रिया प्रभृति शक्तियों की अभिव्यक्ति के बिना ज्ञान शक्ति की अभिव्यक्ता पूर्णता को प्राप्त नहीं होती है। उसी प्रकार ज्ञानादि शक्ति के प्रकाश के बिना क्रिया प्रभृति शक्तियों की अभिव्यक्ति भी पूर्ण नहीं होती। जब कोई एक शक्ति पूर्ण रूप में अभिव्यक्त होती है तो अन्यान्य शक्तियों की अभिव्यक्ति भी पूर्ण रूप से होने लगती है। शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति भी सामान्य और विशेष दो दिशाओं में होती है। सामान्य अभिव्यक्ति हुये बिना विशेष अभिव्यक्ति नहीं होती। ज्ञान शक्ति का प्रथम आविर्भाव सामान्य रूप में ही ही होता है, उसके विशेष आविर्भाव के लिये क्रिया प्रभृति शक्तियों का आविर्भाव आवश्यक है।

सामान्यत: ज्ञान शक्ति का आविर्भाव ही साक्षिभाव का स्फुरण है। देह के बिना शक्ति का स्फुरण नहीं हो सकता। अतएव साक्षिभाव का आविर्भाव देहावस्था में ही सम्पन्न होता है। जिनके ज्ञान का उदय होता है, परन्तु ज्ञान शक्ति का उदय नहीं होता, उनका ज्ञान प्राप्ति के साथ-साथ देहपात अवश्यम्भावी है। ज्ञान के उदय से अज्ञान की निवृत्ति होती है और अज्ञान निवृत्ति के साथ-साथ देह स्खलित होती है। इनके ज्ञानोदय के कारण साक्षिभाव की प्राप्ति नहीं होती। साथ ही साथ विदेह कैवल्य आ उपस्थित होता है। इस प्रकार ज्ञान जीवन्मुक्ति का साधक नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान माया का कार्य होता है। महामाया शक्ति के उन्मेष के बिना वास्तविक साक्षिभाव कहाँ? महामाया ही चित् शक्ति है। ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति और चित् शक्ति महामाया के ही प्रकार भेद हैं।

साक्षिभाव की प्राप्ति के साथ क्रिया शक्ति का विकास होने रहने पर चिद् अणु मुक्त पुरुष के रूप में अर्थात् परमात्मा के अभिन्न अंश के रूप में हृदय में स्थित होता है। यह देहावस्था में रहते हुये ही होता है। विश्व को भेद करना मुक्त पुरुष का ही कार्य है। परन्तु विश्व भेद करने के लिये पुरुष को सर्वप्रथम अपना देह भेद करना होता है, वस्तुत: यह देह भेद ही विश्व भेद है। जो साक्षी नहीं अर्थात् जो देहाभिमानी है, और भोक्ता है, वह देह भेद नहीं कर सकता। जो अभिमान हीन और चेतन है, वे ही परमात्मा के अंशभूत द्रष्टा रूप में देह में रहकर भी, देहस्थ शून्य में, अर्थात् हृदयाकाश में असंग रूप में अवस्थान करते हैं। क्रिया शक्ति के विकास के साथ अन्तर्यामित्व प्राप्त करते हैं, अर्थात् एक-एक करके योग में उन्नति प्राप्त करते रहते हैं।

क्रिया शक्ति के उन्मेष के साथ-साथ उपासना का सूत्रपात होता है, क्रिया शक्ति के पूर्ण विकास में ही उपासना की समाप्ति होती है। उपासना ही योग है। योग शब्द से ज्ञात होता है कि दो वस्तुयें सम-भावापन्न हुयीं। इन दो वस्तुओं में एक मुक्त पुरुष है, जिसमें क्रिया शक्ति का प्रथम उन्मेष हुआ है और दूसरी वस्तु है परम पुरुष, जिसमें क्रिया शक्ति का विकास सम्पन्न हो गया है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा का मिलन ही योग कहलाता है, जिस मात्रा में क्रिया शक्ति का विकास होता है, ठीक उसी मात्रा में योग स्थापित होता है। योगावस्था में जीवात्मा में क्रमश: परमात्म भाव जागने लगता है। जीवात्मा जब अपने को परमात्मा रूप में उपलब्ध करता है तभी योग पूर्ण होता है। पूर्ण योग ही परमात्मा का सायुज्य है। क्रिया शक्ति के उन्मेष के साथ-साथ बाहर से शक्ति लेनी पड़ती है और उसके फलस्वरूप बाहर का आकर्षण क्रमश: कम होता जाता है। बाहर से बाह्य जगत् का सारभूत रस क्रिया शक्ति के प्रभाव से साक्षिस्वरूप मुक्त आत्मा को प्राप्त होता है। इसके फलस्वरूप पहले ज्योतिस्वरूप में और उसके पश्चात् ज्योति के मध्य-स्थित आकृति के रूप में रचना होती रहती है। यह रूप की ही रचना है, ज्योति की घनीभूत अवस्था है। यह ज्योति कर्म शक्ति का ही सार अंश है। कर्म का आकर्षण पूर्ण रूप से सिद्ध होने पर बाहर के साथ सम्बन्ध नहीं रह जाता। अन्तिम अवस्था में भीतर में भी ज्योति पूर्ण हो जाती है। फलत: उस समय रूप का पूर्ण विकास होता है। तब फिर वह ज्योतिर्मण्डल के बीच का रूप नहीं, बल्कि शुद्ध रूप होता है। इस अवस्था में हृदय के असंख्य द्वार रुद्ध हो जाते हैं तथा साथ-साथ ऊर्ध्वमुख एक द्वार उन्मुक्त हो जाता है। हृदय के समस्त द्वारों को बन्द कर ऊर्ध्व मार्ग से इस द्वार का छेदन करके, निकलने पर मूर्ति आविर्भूत होती है। रूप तब तक मूर्त रूप में परिणत नहीं होता, जब तक वह हृदय से ऊर्ध्वमुख होकर नहीं निकलता। यही एकाग्रता का फल है।

योग की धारा अन्तर्मुखी होती है। इसका कार्य तब तक आवश्यक है जब तक बहिर्मुखी धारा को वशीभूत करके साम्य प्रतिष्ठित नहीं होता। साम्यभाव आने पर एक ओर जिस प्रकार बाह्य नहीं रहता, दूसरी ओर उसी प्रकार भीतर भी नहीं रहता। रूप का गठन पूर्ण हो जाने पर फिर बाहर से कर्म शक्ति का उपार्जित रस आवश्यक नहीं होता। इसी कारण तब पूर्व पथ या नाना मार्ग, जिसके द्वारा बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध रहता था, वह रुद्ध हो जाता है। रूप के पूर्ण होने पर फिर रूप रह जाता है। तब रूप भेद होकर मूर्ति का आविर्भाव होता है। रूप से मूर्ति पर्यन्त अवस्था की प्राप्ति, परमात्मा से भगवद्भाव तक की प्राप्ति ही है।

गुरु शक्ति के प्रभाव से अभिन्नता प्राप्त होती है। तथा बिन्दु, मन, प्राण का भेद तिरोहित हो जाता है और यह तीनों धारायें क्रमश: मिलकर एक अभिन्न

धारा के रूप में परिणत होती हैं। बिन्दु स्वभावत: निरन्तर क्षरणशील होता है। इसी कारण यह अक्षर को प्राप्त नहीं हो सकता। बिन्दु क्षरित होकर खण्ड-खण्ड वर्ण रूप में प्रकट होता रहता है। परन्तु यह सारे वर्ण परस्पर मिलकर एक आकार को प्राप्त नहीं होते। वर्णों के संयोग-वियोग से ही पद, वाच्य और भाषा की उत्पत्ति होती है। यदि नाना वर्ण विलीन होकर एक रूप ग्रहण कर ले, तो उनसे पद-वाक्यादि कुछ भी नहीं बन सकते। तब तो जो कुछ रहेगा, वह ऊर्ध्व प्रवाह शील नाद रूपी शब्द होगा। वर्ण समूह से हमारे व्यावहारिक विकल्प ज्ञान का उदय होता है। अतएव नाद भाव की अभिव्यक्ति के साथ-साथ ही परमार्थ ज्ञान का मार्ग खुल जाता है। गुरु शक्ति के उन्मेष के पश्चात् नाद विकास के समय यह ऊर्ध्वगति लक्षित होती है, यही यथार्थ ब्रह्मचर्य है। यही अक्षर भाव की प्राप्ति की धारा है, बाहर के आपातत: प्रतीपमान क्षरण होते हुये भी भीतर का अक्षर भाव क्रमश: अधिकतर स्पष्ट हो उठता है। प्राण की श्वास रूपी धारा की यही बात है। गुरु शक्ति की प्राप्ति से पूर्व श्वास निरन्तर खण्डित होता है। परन्तु गुरु शक्ति की प्राप्ति के बाद उसमें अविच्छिन्नता आ जाती है, क्योंकि बाह्य दृष्टि से श्वास की अन्तर्मुखी और बाह्य गति के होते हुये भी दोनों एक ही धारा के रूप में उपलब्ध होते हैं। यह उपलब्धि क्रमश: व्यापक रूप में परिणत होती है और गति की अविच्छिन्नता सिद्ध हो जाने के बाद वक्रता भी निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार सरल गति की प्राप्ति के साथ-साथ बिन्दु और ब्रह्म का भेद मिट जाता है।

४

देह और कर्म

भगवान् शंकराचार्य ने मनुष्यत्व, मुमुक्षत्व और महापुरुष का आश्रय, इन तीनों का जीवन की दुर्लभ सम्पदा के रूप में बखान किया है। कर्म कर अर्थात् पौरुष का प्रयोग कर जीवन पथ पर अग्रसर होने की क्षमता एक मात्र मनुष्य में ही है। इसीलिये तत्ववेत्ताओं ने नर देह की इतनी महिमा गायी है। मनुष्य देह कर्म देह और भोग देह दोनों ही है। जाति, आयु और भोग प्रारब्ध के फल हैं। ८४ लाख योनियों में भ्रमण कर जीव को अन्त में मनुष्य देह प्राप्त होती है। तब वह नवीन कर्म का अधिकारी होता है। इस तरह भाग्यवश विवेक का उदय होने पर विशुद्ध कर्म करने में समर्थ होता है। योग कर्म ही विशुद्ध कर्म है। पुण्य पाप के अतीत शुद्ध आत्म कर्म के लिये ही यह देह धारण की जाती है। जब तक यह नहीं होगा तब तक लोक लोकान्तर में भ्रमण करने पर भी स्थूल मानव देह का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

मनुष्य देह एक लघु ब्रह्माण्ड रूप है। जो कुछ बाह्य जगत् में है, वह सब मनुष्य देह में है। देह क्षेत्र कहा जाता है क्योंकि कर्म कर इससे कल्पवृक्ष पैदा होता है, जो समय पर अमृत फल उत्पन्न करता है। मनुष्य देह में ही बन्धन का मोक्ष होता है, इसलिये इस देह में ही मुक्ति हो सकती है। कुण्डलिनी की स्थिति इसी देह में है। सुषुम्ना नाड़ी और षट्चक्रों का अवस्थान मानव से अन्य योनि में यथावत् नहीं पाया जाता, ब्रह्मचर्य का अभ्यास अन्य देहों में नहीं हो सकता। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये अवस्थायें पशु आदि में भी होती हैं, परन्तु तुरीय या तुरीयातीत अवस्था एक मात्र मानव में ही हो सकती है। इसलिये कर्म ज्ञान और भक्ति रूप योग का अभ्यास भी केवल इस मानव देह में ही हो सकता है। वास्तविक दिव्य देह मनुष्य देह का ही विकास मात्र है।

अनात्मा में आत्म बोध रूप अभिमान जब स्थूल देह का अवलम्बन कर कार्य करता है, तब इस अभिमान से ही स्थूल देह के कर्म उत्पन्न होते हैं। स्थूल देह चैतन्य हट जाने से शववत् होगी। अभिमानशील सूक्ष्म देह तब इस शववत् स्थूल देह को अपने अधीन कर अपना आसन बना लेगी। यही वास्तविक शवासन है—पूर्ण योगी की योग क्रिया की परिपुष्टि के लिये यही आसन उपयोगी है। स्थूल कर्मों के प्रभाव से जैसे स्थूल भौतिक सत्ता से चैतन्य का निर्गम होता है

और उस चैतन्य शक्ति रूपी अग्नि के ताप से सूक्ष्म सत्ता विगलित होकर आकार धारण करती है और स्थायी रूप से परिणत होती है, वैसे ही सूक्ष्म देह में अभिमान का उदय होने के बाद सूक्ष्म देह में अनुष्ठित कर्म के प्रभाव से सूक्ष्म सत्ता में स्थित अविविक्त चैतन्य शक्ति का विवेचन होता है और वही चैतन्य शक्ति पूर्वोक्त प्रणाली से निकलकर कारण सत्ता को विगलित करती है, जिसके कारण सत्ता वास्तविक कारण देह के रूप में परिणत होती है। जब तक सूक्ष्म सत्ता से उनमें स्थित समग्र चैतन्य या तेज निकाल नहीं लिया जाता तब तक सूक्ष्म देह के कर्म का अवसान नहीं होता। मृत्यु के पहले यदि सूक्ष्म देह द्वारा अनुष्ठित होने योग्य आत्म कर्म समाप्त हो जाय, तो सूक्ष्म देह भी पूर्ववत् स्थूल के तुल्य शव के रूप में परिणत हो जाती है और अभिमान शून्य का परित्याग कर कारण देह का अवलम्बन करता है। अहंभाव तब कारण देह का आश्रय कर स्थूल और सूक्ष्म इन दोनों शवासनों के ऊपर अधिष्ठित होता है एवं कारण देह के कर्म पूर्ण करने में प्रवृत्त होता है। सूक्ष्म देह के कर्म एक आसन के कर्म हैं, किन्तु कारण देह के कर्म दो आसनों के कर्म हैं।

स्थूल कर्म समाप्त किये बिना, मृत्यु होने पर शवासन की प्राप्ति नहीं होती, इसी मातृगर्भ में आकर जन्म लेना पड़ता है। कम से कम एक शवासन प्राप्त कर सकने पर उसे गर्भयन्त्रणा और काल राज्य में प्रवेश के उपद्रवों से छुटकारा मिल सकता है। मृत्यु के भीतर से ही अमरत्व का मार्ग है। यदि स्थूल देह को शव रूप से आसन बनाकर स्वयं उस पर अधिष्ठित हुआ जा सके, तो वह जन्म-मृत्यु रहित हो जाता है। किन्तु, कर्म की पूर्णता नहीं होती, इसलिये कर्म रहित नहीं होता, महाज्ञान भी उसे प्राप्त नहीं होता। आपेक्षिक खण्ड ज्ञान अवश्य होता है। आत्म कर्म का गतिरोध नहीं होता। एक बार शवासन लाभ होने पर जन्म-मरण के परे कालराज्य की अतीत निर्मल भूमि में योगी आत्म कर्म करते हैं, परन्तु उस कर्म को पूर्ण करने में अधिक समय लगता है। कालराज्य में विकास जितनी द्रुत गति से होता है, अमर देह में उतनी द्रुत गति से नहीं हो सकता।

माता के गर्भ से उत्पन्न स्थूल देह ही कर्म देह है। इसके धारण किये बिना मनुष्य कर्म करने में समर्थ नहीं है। आत्म कर्म के द्वारा आत्मिक स्थिति का उत्कर्ष होता है। तीव्रता के अनुसार कर्म तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। आत्म कर्म तब तक सम्पन्न नहीं किये जा सकते, जब तक देह में चैतन्य शक्ति का उन्मेष नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य देह में यह शक्ति कुल कुण्डलिनी के नाम से निहित रहती है। जब इस शक्ति का उन्मेष होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक मनुष्य मनुष्याकार सम्पन्न होकर भी प्रकृतितः पशु के सिवा और कुछ नहीं है। पशुत्व की निवृत्ति का एक मात्र उपाय कुण्डलिनी

का जागरण और शिवत्व का विकास है। किन्तु यह कुण्डलिनी का जागरण सबका एक ही मात्रा में नहीं होता। अनेक का कुण्डलिनी जागरण होता ही नहीं—उनके सम्बन्ध में यहाँ आलोचना नहीं की जायगी। किन्तु जिनकी कुण्डलिनी उद्बुद्ध होती है, उन सबकी भी जागरण मात्रा एक समान नहीं होती है, इसलिये सबको एक श्रेणी में रखना नहीं बनता। यदि सद्गुरु साक्षात भगवत्-शक्ति सम्पन्न हो, तो भी शिष्य के आधार की बलवत्ता पर उनके द्वारा संचारित शक्ति का फल प्रकट होना निर्भर करता है। जिस आधार में जितनी शक्ति धारण हो सकती है, सद्गुरु उस आधार में उससे अधिक शक्ति का संचार नहीं करते तथा उससे कम शक्ति का भी संचार नहीं करते। आधार यदि दुर्बल हो तो कुण्डलिनी का उन्मेष किंचित मात्रा में ही होता है। उसके अनुसार साधक स्वयं अपने कर्म द्वारा उसे आगे बढ़ाता है। इस प्रकार साधक के अन्तर में एवं बाहर उद्बुद्ध चैतन्य शक्ति का धीरे-धीरे विकास होता है। चैतन्य शक्ति के विकास से अनात्मा में आत्मभाव तो हट ही जाता है, विशेष रूप से आत्मा में आत्माभिमान की पूर्ण अभिव्यक्ति का द्वार भी खुल जाता है। प्रकृति और माया से आत्म स्वरूप का विवेक उदित होने पर कर्म संस्कार कट जाते हैं, किन्तु पशुत्व की निवृत्ति हुये बिना भगवत् स्वरूप में स्थिति नहीं होती। साधक की आत्मा परमात्मा से अभिन्न अथवा परमात्मा की सनातन अंशभूत एवं स्वरूपत: नित्य दिव्य भावापन्न है, वह पशु अवस्था के निम्नतम स्तर में इन सब प्राकृतिक सूक्ष्म संस्कारों के आवेष्टन से आच्छन्न होकर बद्ध के तुल्य वर्तमान रहती है। दिव्य ज्ञान का उदय और क्रमश: विकास होने पर उन सब संस्कारों की निवृत्ति तो होती ही है, साथ ही साथ मौलिक पशुबीज भी कट जाता है। साधक कर्म द्वारा, गुरु से प्राप्त ज्ञानाग्नि की चिन्गारी को अपनी सत्ता में पूर्ण रूप से विस्तृत करता है इससे अज्ञानज कर्म संस्कार नष्ट होते हैं।

उपर्युक्त साधना का क्रम इष्ट साधना का ही क्रम है। साधक का इष्ट देवता कुण्डलिनी शक्ति के सिवा दूसरा कोई नहीं है। साधक चाहे जिस नाम अथवा रूप को ही ग्रहण क्यों न करे, एक मात्र कुण्डलिनी ही उसका इष्टदेव है। सिद्धावस्था में साध्य और साधक में कोई भेद नहीं रहता। साधक की आत्मा तब इष्ट रूप में प्रतिष्ठित होती है एवं माया के आभास एवं संस्कार की केंचुल से सदा के लिये मुक्ति मिल जाती है। यह सही है कि अपना व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता, परन्तु व्यक्तित्व का उपयोग नहीं होता, क्योंकि व्यापक महासत्ता में अपनी व्यक्तिगत सत्ता तब मग्न हो जाती है। यह निराकार निष्क्रिय चिदात्म स्वरूप में अवस्थान है। जो आधार अपेक्षाकृत सबल रहता है, गुरु प्रदत्त अनुग्रह शक्ति के संचार के कारण उसकी अग्रगति भिन्न प्रकार से होती है।

इस प्रकार के आधार विशिष्ट उपासक का योगी के नाम से उल्लेख करेंगे। योगी का आधार साधक के आधार की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है, इसीलिये उसकी देह में कुण्डलिनी शक्ति का विकास प्रारम्भ से ही अधिक मात्रा में हो जाता है। साधक की साधना समाप्त होती है, योगी की साधना वस्तुत: वहीं से प्रारम्भ होती है। साधक की सत्ता चित् सत्ता से मिल जाती है। साधक का आदर्श विदेह कैवल्य है परन्तु योगी का आदर्श पिण्ड सिद्धि है। साधक सिद्धावस्था में काम का परित्याग कर निष्काम चित्स्वरूप में स्थिति प्राप्त करना किन्तु योगी का लक्ष्य है मलिन काम को शोधित कर विशुद्ध काम रूप में अर्थात् भगवत् प्रेम रूप में परिणत करना। योगी आकार रहित नहीं रहते। इस नित्य काया को प्राप्त कर योगी अखण्ड कर्म के पथ पर अग्रसर होते रहते हैं।

वायु जैसे मूलत: सात प्रकार का होने पर भी सप्तीकरण प्रक्रिया के कारण उन्चास पृथक-पृथक रूपों को धारण करता है, वैसे ही एक परिच्छिन्न काल शक्ति पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुरूप प्रणाली से उन्चास अणु शक्तियों के रूप में परिणत होती है। मातृका चक्र के रहस्य की आलोचना करने पर समझ में आ सकता है कि ये उन्चास शक्तियाँ ही विषम संयोग से मातृका शक्ति के रूप में जीव के हृदय में विकल्पों की रचना करती है। ये उन्चास शक्तियाँ शुद्ध जीवात्मा को अशुद्धवत् प्रतीत कराकर अनन्त प्रकार के विक्षेपों के आश्रय के रूप में प्रदर्शित करती हैं। वस्तुत: इन विकल्पों का शोधन हुये बिना आत्मा की स्वरूप स्थिति होना सम्भव नहीं। वर्तमान जगत् या समाज में साधारणत: जो कर्म प्रचलित हैं उनसे इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वे कर्म मूलत: कर्तत्वाभिमान मूलक है अतएव पुण्य और पाप रूप से जीव को ऊर्ध्वगति या अधोगति में प्रेरित करते हैं। उन कर्मों से सुख-दुख भोग होता है। यदि कुण्डलिनी शक्ति तनिक मात्रा में भी जाग न उठे, तो अति निम्न स्तर का आत्म कर्म भी नहीं हो सकता। साधक का काम है अशुद्ध सत्ता को अपने से अलग करना, किन्तु योगी का काम है अशुद्ध सत्ता को निर्मल निज शक्ति के रूप में परिणत करना और अपने साथ युक्त रखना। वास्तविक सिद्ध योगी वे ही हैं जो उन्चास मात्र शक्तियों में से सभी को आत्म शक्ति रूप में परिणत करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार के सिद्ध योगी नित्यकाय सम्पदा लाभ करते हैं। नित्यदेह लाभ करके भी भौतिक देह की ओर से इस प्रकार के सिद्ध योगी को भी मृत्यु के मध्य से अतिक्रमण करना पड़ता है। साधक अणुओं अथवा विकल्पों को शुद्ध कर विकल्पहीन चिदाकाश में स्थिति प्राप्त करता है। उसका काया निर्माण नहीं होता, लौकिक काया का परित्याग हो जाता है, पर अलौकिक काया का उदय नहीं होता, एवं होने की सम्भावना भी नहीं रहती। साधक और योगी की गति एक सी नहीं

है। साधक कैवल्य चाहता है और योगी चाहता है पूर्ण रूपान्तर। जब तक वास्तविक रूपान्तर पूर्ण रूप से सिद्ध न हो तो सम्यक् ज्ञान का उदय नहीं होता एवं यथार्थ स्वरूप प्रतिष्ठा भी नहीं होती। यह केवल ज्ञान के द्वारा नहीं होती, विशिष्ट ज्ञान अथवा विज्ञान द्वारा इस प्रकार का रूपान्तर सिद्ध नहीं होता। साधक के मायिक कर्मों के घटने पर जो कैवल्य होता है वह अशुद्ध विज्ञान कैवल्य है, उससे पशुत्व निवृत्त नहीं होता परन्तु जन्म-मृत्यु का आवर्तन रुक जाता है। इसीलिये माया पाश काटकर महामाया पाश भी काटना पड़ता है, तब जिस अवस्था का उदय होता है वह शुद्ध विज्ञान कैवल्य है। किन्तु यह भी वास्तविक भगवत् सत्ता नहीं है। यह महाशव की अवस्था है। गुरु शक्ति रूपी उत्कट योग क्रिया से भगवत् सत्ता पूर्ण अभ्युदय सम्भव होता है।

सद्‌गुरु साधक में शक्तिपात के समय ठीक उतनी ही मात्रा में शक्ति का संचार करते हैं, जिससे उसकी कुण्डलिनी शक्ति उद्‌बुद्ध होकर ऊर्ध्व गति का अवलम्बन करती हुयी अग्रसर होने में समर्थ हो जो अशुद्ध वासनायें साधक के अन्दर निहित ज्ञान शक्ति का आच्छन्न रखती है, वे गुरु कृपा से कुण्डलिनी के जागरण के साथ जल जाती हैं। इससे यथा विधि किये गये कर्म के प्रभाव से प्रबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति बढ़कर क्रमश: चैतन्य रूप में अपना विस्तार करती है, एवं धीरे-धीरे समस्त देह, इन्द्रिय मन आदि को चिन्मयत्व प्रदान करती है। अशुद्ध वासनाओं को हटाना ही चित् शक्ति का कार्य है। इस कार्य के सम्पन्न होते-होते अपने साथ अभिन्न रूप से इष्ट स्वरूप क्रमश: अभिव्यक्त होता रहता है, किन्तु वह साधक के दृष्टिगोचर नहीं होता। क्योंकि अशुद्ध वासना का कुछ भी अवशेष विद्यमान रहने तक शुद्ध वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता। पक्षान्तर में यह भी सत्य है कि अशुद्ध सत्ता यदि किंचित् मात्र में न रहे तो देह, इन्द्रिय आदि को अपने रूप में सुरक्षित रखना असम्भव है। इस शोधन कार्य के पूर्ण होने पर मलिन वासनायें क्षीण हो जाती हैं, तदुपरान्त वह एकदम नहीं रहती। तभी निर्विकल्प ज्ञान का उदय होता है एवं साथ ही साथ देहपात हो जाता है। साधक तब वासनामुक्त होकर अपने को इष्ट के साथ अभिन्न देखता है। यही उसका आत्मदर्शन है। गुरु कृपा को सहायक बनाकर साधक अपनी शक्ति के प्रभाव से सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है, एवं सिद्धावस्था में उसे चिदाकाश में स्थिति प्राप्त होती है। तब वह वासनामुक्त चैतन्यमय आत्म मात्र है। उसमें शक्ति का विकास नहीं रहता एवं उसका कुछ प्रयोजन भी नहीं रहता। योगी की गति इससे भिन्न है। योगी का आधार जन्म से ही बड़ा है, उसमें संचारित शक्ति की मात्रा तीव्र रहती है एवं आगे बढ़ने की गति भी भिन्न होती है। आधार परिपक्व हुये बिना तीव्र शक्ति धारण नहीं की जा सकती एवं तीव्र शक्ति क्रिया के बिना पूर्ण

अद्वैत तत्व में प्रतिष्ठा नहीं होती। साधक का क्षेत्र मलिनता का त्याग है तथा योगी का क्षेत्र प्रतिकूलता को अनुकूलता के क्षेत्र में परिणत करना होता है। योगी का कर्तव्य योग कर्म बल से गुरुदत्त चिदाकार के साथ संघर्ष कर मलिन वासना को शोधित कर उसे अनुकूल शक्ति के रूप में परिणत करना है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि साधक संकुचित है, किन्तु योगी उदार है। अपनी व्यक्तिगत दुःख निवृत्ति की साधक का लक्ष्य है, किन्तु योगी का लक्ष्य केवल अपने दुःख की निवृत्ति नहीं है, क्योंकि योगी परार्थ सेवक होने से अपनी दुःख निवृत्ति के साथ-साथ दूसरों की दुःख निवृत्ति के उपाय का भी अवलम्बन करते हैं, इसीलिये योगी ही यथार्थ गुरु हो सकते हैं।

योगियों में भी सभी योगी समान नहीं रहते। खण्ड, महाखण्ड और अखण्ड तीन प्रकार से योगियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। खण्ड योगी ऐसे एक उच्च आदर्श को लक्ष्य में रखकर योग मार्ग में अग्रसर होते हैं जो चिदाकाश पर प्रतिष्ठित है। खण्ड योग की भूमि योग दीक्षा प्राप्त किये वगैर नहीं प्राप्त की जा सकती। दीक्षा द्वारा हृदय में अधिकार बीज प्राप्त होने पर, बीज को अंकुरित कर, वृक्ष रूप में परिणत कर, पुण्य और फल के रूप में प्रकाशित करना योग कर्म के अधीन है। दीक्षाकाल में गुरुकृपा द्वारा अनुग्रह शक्ति का संचार करते हैं। दीक्षित होकर उनकी कृपा शक्ति प्राप्त करने पर भी स्वयं अनुरूप कर्म न करे तो ऐसी स्थिति में प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। गुरु ने जो महालक्ष्य उसके सामने रख दिया उसे आपत्त करने का पूर्ण अधिकार गुरु से पाकर भी वह कर्म में आलस्य करने से लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। जीवन का काल परिमित है, देह त्याग के पश्चात् विदेह अवस्था में कर्म देह के साथ सम्बन्ध न रहने के कारण कर्म का अवसर नहीं रहेगा। योग पथ में अग्रगति रुक जायगी। मरणशील देह में कर्म कर सकने पर अत्यन्त अल्प समय में ही कर्म का अवसान हो जाता है। कर्म समाप्त किये बिना प्रवाह में बहकर लक्ष्यभूमि में पहुँचने पर भी, उस पहुँचने का कोई महत्व नहीं है।

योगी गुरु शिष्य की योग दीक्षा के बाद आसनदान करते हैं। योगी शिष्य के देहपात के बाद उसे आसन रूपी भूमि उपलब्ध होगी। इस आसन पर दीर्घकालीन कर्म करना होगा, क्योंकि यह मरणशील देह का कर्म नहीं है। यद्यपि इस कर्म देह में तीव्र वेग से कर्म सिद्ध नहीं होता। योगी शिष्य को मृत्यु के बाद अवशिष्ट कर्म करने के लिये जो विशुद्ध व्यापक भूखण्ड प्राप्त होता है, उसको गुरुधाम कहा जाता है। गुरुधाम में प्राप्त आसन पर सुदीर्घ कर्म के प्रभाव से योगी का योग चक्षु उन्मीलित होता है और यथार्थ योग पथ प्रशस्त हो जाता है, उस पथ पर चलने के समय गुरुधाम की काया फिर नहीं रहती। तब दृष्टिमय दिव्य

स्वरूप में मध्यरेखा को पकड़कर क्रमशः चलते चिदाकाश का भेदकर लक्ष्य स्थान में पहुँचना पड़ता है।

वास्तविक योग दीक्षा प्राप्त होने पर मृत्यु के बाद गुरु स्थान में गमन होता है एवं स्वस्थान प्राप्त होता है। सिद्धभूमि अधिकांश स्थलों में इस गुरु स्थान के अन्तर्गत है। गुरुधाम से जो गति प्राप्त होती है, जो खण्ड योगी को लक्ष्य तक चला ले जाती है, परन्तु उससे देह भेद सिद्ध नहीं होता तथा यथार्थ योग पथ उन्मुक्त नहीं होता। स्वयं विश्व जननी कोई न कोई रूप धारण कर, जिस योगी का योग चक्षु खुल गया हो, उसके निकट अपने को प्रकट करती हैं। उनका वास्तविक रूप साधक को प्राप्त होता ही नहीं खण्ड योगी भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते। खण्ड योगी को उसके आभास मात्र की प्राप्ति होती है। योग चक्षु खुलने के बाद ही विश्व जननी का जो रूप या राज्य प्रकाश में आता है, वह सब निम्न स्तर का है। उस राज्य में साधक भी आ सकते हैं किन्तु वे माँ के स्वरूप का दर्शन नहीं पाते। दुर्बल खण्ड योगी स्वरूप दर्शन पाते हैं सही, किन्तु वही विश्राम लाभ करते हैं। उनकी उन्नति वहीं रुक जाती है। उसके आगे जो राज्य है वह भी विश्व जननी का राज्य है वहाँ भी कमल के दल में विश्व जननी का ही आसन है किन्तु यह मध्यम खण्ड योगी का आसन है। जो उत्तम खण्ड योगी है उनका आदर्श चिदाकाश का ऊर्ध्व है। मरणशील देह के कर्म की समाप्ति हुये बिना केन्द्र में जाकर माता के अंक में बैठा नहीं जा सकता। खण्ड योग की चरम उत्कर्षावस्था में भी महाज्ञान उदित नहीं होता। महाज्ञान उसी पथ पर प्रकाशित होता है जो अपनी काया का भेद करने के अनन्तर खुली हुयी शुद्ध दृष्टि के सामने प्रकट होता है। इस पथ का यात्री अत्यन्त दुर्लभ है।

अध्यात्म मार्ग में कृपा और कर्म का परस्पर सम्बन्ध विशेष रूप से अनुसरण करने योग्य है। साधक के जीवन में कृपा प्रधान है और कर्म गौण है। वास्तव में साधक का कर्म एक प्रकार से है ही नहीं, ऐसा यदि कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। योगी के योग पथ में कर्म ही प्रधान है। खण्ड एवं महाखण्ड योगों में कर्म का प्रधान और उत्कर्ष रहने पर भी अपेक्षित दृष्टि से कृपा ही प्रधान है। इस महाकृपा और परम पुरुषार्थ अभिन्न रूप से एक क्षण में अभिव्यक्त हो उठते हैं।

खण्ड योगी को जिस प्रकार दीक्षाकाल में आसन प्राप्त होता है, वैसे ही महाखण्ड योगी को भी आसन की प्राप्ति होती है। पर यह उच्चतर आसन है। खण्ड योगी अगर कर्म अपूर्ण रखकर देह त्याग करे, तो उसे देहान्त होने पर भुवन प्राप्त होता है, जहाँ स्थित होकर अपने-अपने आसन पर कर्म करने का अधिकार पैदा होता है एवं कर्म की समाप्ति के बाद नेत्र खुलने पर दिव्य दृष्टि

खुल जाती है और उसका अवलम्बन कर चिदाकाश के ऊपर की भूमि तक आगे बढ़ना सम्भव होता है। खण्ड योगी के लक्ष्य से महाखण्ड योगी का लक्ष्य विशाल है। खण्ड योगी के चरम लक्ष्य के बाद से महाखण्ड योगी के चरम लक्ष्य तक जो मार्ग दिखायी देता है वह एक प्रकार से अभिनव आविष्कार है। महाखण्ड योग दीक्षा के बाद परम प्रकृति की स्नेहमय गोद में बैठने का अधिकार मिलता है। यह अवश्य कर्म की अपेक्षा रखता है। किन्तु जो योगी मरणशील देह में कर्म समाप्त करने से पूर्व ही देह त्याग करते हैं, वह खण्ड योगी की तरह एक आसन प्राप्त करते हैं जिसके सहारे वे प्रकृति के ऊर्ध्व देश में एक सिद्ध स्थान प्राप्त करते हैं, जहाँ अपना आसन ग्रहण कर अवशिष्ट कर्म पूर्ण करने में समर्थ होते हैं। यही स्थान तिब्बतीय गुप्त योगियों की परिभाषा में 'ज्ञानगंज' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्ञानगंज सिद्ध भूमि है एवं पूर्वोक्त गुरुधाम भी सिद्ध भूमि है। गुरुधाम में अपूर्ण खण्ड योगी को कर्म पूर्ण करने के लिये ज्ञान प्राप्त होता है, यही उसका गुरुदत्त आसन है। वैसे ही ज्ञानगंज में अपूर्ण महाखण्ड योगी को प्रारब्ध कर्म पूर्ण करने के लिये स्थान प्राप्त होता है, यह उसकी आसन प्राप्ति है। वास्तव में दीक्षाकाल में ही यह आसन अथवा बैठने का स्थान प्राप्त हो जाता है। यद्यपि यह दीक्षाकाल में दीक्षार्थी अथवा दीक्षित के नेत्रगोचर नहीं होता।

योगी के लिये यह नियम है कि गुरु से पहले कृपा ग्रहण कर बाद में उसे स्वकर्म द्वारा गुरु को चुका दे। तब भविष्य का मार्ग प्रशस्त होता है। साधन मार्ग में केवल काल की उत्ताल तरंगों से शिष्य का उद्धार करके गुरु की करुणा निवृत्त हो जाती है, वह उसे कालातीत किसी उच्च पद पर अभिषिक्त नहीं कर सकती। योग मार्ग में कर्म की प्रधानता रहने से कालातीत राज्य में योगी को विशिष्ट अधिकार सम्पन्न स्थान प्राप्त होता है। खण्ड योगी के अधिकार से महाखण्ड योगी का अधिकार श्रेष्ठ है एवं सर्वश्रेष्ठ अधिकार अखण्ड योगी का है। अखण्ड योगी का महान अधिकार ही समग्र विश्व को सब प्रकार के अभावों से मुक्त कर पूर्ण आनन्द एवं ऐश्वर्य में प्रतिष्ठित करने में समर्थ है। साधक के कर्म की समाप्ति होती है परन्तु योगी के कर्म की समाप्ति नहीं होती। पूर्णता प्राप्ति के अनन्तर भी पूर्ण को पूर्णतर, पूर्णतम आदि के क्रम में परिणति होती रहती है। वास्तव में भगवत्स्वरूप में प्रविष्ट होकर भी अनन्त अग्रगति की सम्भावना रहती है।

ज्ञानगंज की योग दृष्टि के अनुसार तीन योग क्षेत्र परिगणित होते हैं—प्रथम लक्ष्य महाभाव तक, इसका क्षेत्र है गुरुधाम। द्वितीय का लक्ष्य महाभाव से अतीत है, वह सूर्य मण्डल के ऊपर स्थित है, इसकी भूमि ज्ञानगंज है, यह महाखण्ड योग क्रिया के अन्त में खुल जाता है। तृतीय की भूमि है विश्वगुरु।

तीनों योग क्षेत्रों में कर्म की तीव्रता अधिक है। सूर्य मण्डल भेद हुये बिना तृतीय क्षेत्र में प्रवेश नहीं हुआ जाता। कृपा और कर्म मूलतः एक ही शक्ति है। कर्म सापेक्ष कृपा और कृपा सापेक्ष कर्म दोनों ही आवश्यक है। तीनों योग क्षेत्र काल के अतीत हैं। प्रथम और द्वितीय क्षेत्र के बाहर काल का राज्य विद्यमान रहता है। तृतीय क्षेत्र के अभिव्यक्त होने पर काल का राज्य फिर पृथक् रूप से विद्यमान नहीं रहेगा। काल में ज़रा और मृत्यु है। देह का क्रमिक विकार, जिसके कारण शिशु शरीर वृद्ध शरीर में परिणत होता है। काल के प्रभाव से यह ज़रा है। काल का दूसरा नाम है मृत्यु। काल का जगत् मरलोक या मृत्युलोक के नाम से पुकारा जाता है इसलिये काल के राज्य के ऊपर यदि कोई राज्य स्थापित हो जाय, तो उसमें काल के दोनों धर्म स्वभावतः नहीं रहेंगे। इसके अतिरिक्त क्षुधा और पिपासा भी काल राज्य के आनुषंगिक धर्म हैं। इसीलिये शुद्ध जगत् में दोनों धर्म तिरोहित हो जाते हैं। मर्त्यलोक के ऊपर काल का वेग अन्य प्रकार है इसलिये ज़रा का अनुभव नहीं होता और समय पर देह पतन होता है। वे सब स्थान कर्म भूमि नहीं है, भोग भूमियाँ हैं। ये योगी के लिये हेय है।

आत्मा अणु रूप में संकुचित होकर ही साक्षात् रूप से ईश्वर प्रेरणा द्वारा माया गर्भ में पड़ता है और कर्म जाल में पड़ जाता है। तदनन्तर उसका भोग प्रधान संसार जीवन आरम्भ होता है। चिदणु के माया में उतरते समय गुरु राज्य का पता नहीं चलता, यह सही है, किन्तु लौटती बार उच्च अधिकार सम्पन्न होने पर उसे पता चलता रहता है। अनभिज्ञ पथिक को साधारणतः यह पता नहीं चलता कि इसके आगे और भी कुछ रह सकता है। ज्ञानगंज की सत्ता वास्तविक रूप से गुरु राज्य से भी परे है। यथार्थ रूप से यदि देखा जाय तो यह ज्ञानगंज ही उच्चतर गुरु राज्य की भूमि रूप है। ज्ञानगंज से ज्ञानगंज के लक्ष्य स्थान परमा प्रकृति तक जो विशाल राज्य है, वह पहले ज्योति मात्र था, राज्य रूप में परिणत नहीं था। किन्तु उसने महाखण्ड योगी के कालदेह से अनुष्ठित कर्म के प्रभाव से राज्य का रूप धारण किया है। परन्तु महाखण्ड योगी का यह अधिकार क्षेत्र भी वास्तविक गुरु राज्य नहीं है। वास्तविक चरम आदर्श अखण्ड गुरु राज्य अभी तक प्रतिष्ठित नहीं हुआ एवं उसके प्रतिष्ठापन के लिये कर्मी योगिमण्डल में आन्दोलन चल रहा है। अखण्ड गुरु राज्य प्रतिष्ठित होने पर उच्च निम्न भाव नहीं रहेगा एवं पहले का गुरु राज्य एवं मध्यवर्ती ज्ञानगंज काल की दृष्टि के सहित उसी के अन्तर्गत हो जायेंगे।

प्रथम गुरु राज्य का जो चरम लक्ष्य है वहीं से वास्तविक अखण्ड गुरु राज्य में जाने का मार्ग है। वह मार्ग सूर्य मण्डल के भीतर से गया है। सूर्य मण्डल भेद करने में महाज्ञान आवश्यक होता है। इस महाज्ञान की प्राप्ति प्रथम गुरु राज्य

के केन्द्र में स्थित हो सकने पर ऊपर से आपेक्षिक महाकृपा के संचार से अपने आप हो जाती है। द्वितीय राज्य में केन्द्र के अधिष्ठाता गुरु का अनुग्रह प्राप्त कर कर्म में अधिकार होता है। काल की देह अर्थात् मरदेह में कर्म पूर्ण न होने पर ज्ञानगंज में जाकर वहीं से कर्म पूर्ण करने पड़ते हैं। मरणशील देह में कर्म पूर्ण होने पर उस राज्य के मध्य बिन्दु में आसन प्राप्त होता है। तब काल की पूर्ण रूप से पराजय होती है अर्थात् काल फिर काल नहीं रहता, मृत्यु की मृत्यु हो जाती है। प्रथम और द्वितीय राज्य में केन्द्र के बाहर कर्म का दान किया नहीं जा सकता। केन्द्र से काल के राज्य में कर्म का दान किया जाता है। उसके बाद कर्म को पूर्ण करने का भार रहता है आश्रित के ऊपर। काल के जगत् में यदि उसे पूर्ण किया जा सके तो कोई बात ही नहीं, अन्यथा कुछ काल स्पर्श युक्त अमर गुरु राज्य में जाकर सुदीर्घ काल में उसे पूरा करना पड़ता है। उसे पूरा किये बिना गुरु का ऋण चुकाया नहीं जाता, गुरु का अनुग्रह निरर्थक हो जाता है। तृतीय राज्य सूर्य मण्डल के उस पार में है। इसलिये महाज्ञान द्वारा सूर्य मण्डल भेद होने पर एवं इधर परमा प्रकृति का भेद होने पर महाकृपा के अन्तिम उन्मेष में अन्तिम द्वार अपने आप ही खुल जाता है तब इस पार उस पार की रेखा मिट जाती है।

ज्ञानगंज से जिस राज्य की सूचना मिलती है उसका लक्ष्य परमा प्रकृति है। लक्ष्य प्राप्त करने के लिये शिव भाव में परिणति आवश्यक है, क्योंकि यह परमा प्रकृति परम शिव के ही नाभिकुण्ड से निकले कमलासन में विराजमान रहती है। गुरु राज्य के लक्ष्य जो शिव है, उनके साथ भक्ति का योग सम्पन्न होने पर वह शिव परम शिव के रूप में अपने को व्यक्त करते हैं। शक्ति का पूर्ण विकास होने पर नाभिमार्ग खुल जाता है तब उस नाभि मण्डल से ब्रह्मनाल उद्गत होता है। शक्ति के जागरण के बिना ऊर्ध्व गति नहीं हो सकती। शक्ति के किंचित जागरण से शिव होते हैं शव, किन्तु शक्ति के और अधिक जागरण से शिव होते हैं सुप्त। शक्ति के पूर्णतम जागरण से शिव भी पूर्ण जाग्रत होते हैं। काली आद्या शक्ति है, यह शिवमयी शक्ति के जागरण की प्रथम सीढ़ी है। शिव तब शव है। तारा जागरण का सन्धि स्थान है, तब भी शिव का शवत्व हटता नहीं। ललिता या राजराजेश्वरी तृतीय शक्ति है, इनके पूर्ण जागरण से शिव निद्रित होते हैं। परमहंस विशुद्धानंद ज्ञानगंज की साधना पूर्ण करते समय नाभि धौती क्रिया के लिये उत्कंठित हुये थे और गुरु कृपा से उन्होंने प्राप्त किया था। इस क्रिया के कारण वे शिव भाव से परम शिव भाव तक पहुँचे थे एवं साथ ही साथ महाशक्ति राजराजेश्वरी को अपनी ही नाभि से निकले हुये कमल में आसन देने में समर्थ हुये थे। खिले हुये नाभि कमल के साथ नवोदित ज्ञान सूर्य

का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सूर्य के उदित होने पर ही नाभि कमल खिल उठता है। नाभि कमल के खिले बिना ज्ञान सूर्य का पता नहीं चलता। यह ज्ञान ही महाज्ञान है। जिस अखण्ड राज्य रूपी तृतीय राज्य की चर्चा की गयी है उसकी स्थापना के लिये सूर्य मण्डल भेदन तथा परमा प्रकृति का भेदन आवश्यक है। शिव का शवत्व हटा है, यह सत्य है; किन्तु परम शिव की सुप्ति का भंग नहीं हुआ। परम शिव का जागरण होना ही वास्तविक जागरण है। तब फिर शिव शक्ति कुछ पृथक् नहीं रहेगा एक अखण्ड चैतन्य ही रहेगा।

योगी कर्म के प्रभाव से अग्रसर होते हैं, यह ठीक है, किन्तु इस कर्म के साथ कृपा का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि चरम अवस्था में दोनों का भेद नहीं किया जा सकता। गुरु राज्य में प्रदत्त प्राथमिक अनुग्रह कर्म के आकार में शिष्य के जीवन में प्रकाश पाता है, क्योंकि वैसा न होने पर दीक्षा प्राप्ति के तुरन्त बाद मृत्यु होने पर भी शिष्य किसके बल से गुरु राज्य में स्थान पाता है? आसन तत्व एक ओर कृपा दूसरी ओर कर्म को अभिन्न रूप से धारण करता है। गुरु दत्त आसन यही बतलाता है कि एक ओर जैसे गुरु की कृपा है, वैसे ही दूसरे पक्ष में यह शिष्य के भावी कर्म की सम्भावनीयता है। बाद में कर्म करना पड़ता है यह बात सही है, किन्तु उसकी सम्भावना आसन के बिना नहीं हो सकती। यद्यपि यह कृपा एक तरह से ऋण रूप है, क्योंकि बाद में शिष्य को उसे चुकाना पड़ता है, तथापि यह काल राज्य से उद्धार होने करने का अमोघ उपाय है। दूसरे राज्य में यह कृपा जैसे और भी गहरी होती है, वैसे ही इससे सम्बद्ध कर्म का प्रभाव और प्रसार भी और अधिक होता है। कृपा और कर्म का मिलन पूर्णतया यहाँ भी नहीं होता। परमा प्रकृति के राज्य की अन्तिम सीमा तक कृपा रहती है। वहाँ तक कर्म कृपा के अधीन है। परमा प्रकृति के राज्य का भेदन करना, अखण्ड गुरु राज्य में प्रवेश करना एवं सबसे पहले शिवावस्था के ऊपर उत्थित होना ये सब महाकृपा से ही होते हैं, किन्तु यह कृपा गुप्त है। यह अनजाने रूप में घटित होती है, किन्तु कृपा का कार्य सिद्ध हो जाता है। परमा प्रकृति के राज्य भेद के अनन्तर अखण्ड गुरुधाम के दरवाजे तक का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। इस मार्ग में प्रकट कृपा का पता नहीं चलता।

साधक की कुण्डलिनी जागने की पूर्ण परिणति है, चिदाकाश में इष्ट अथवा माँ के साथ तादात्म्य। खण्ड योगी की कुण्डलिनी के जागरण का चरम फल शुद्ध विद्या का उन्मेष और उसके विकास से शिवत्व लाभ है। यहीं पर जीव को जीव भाव हटने पर शिव भाव की प्राप्ति होती है। साधक शिव नहीं हो सकता, किन्तु केवली होता है, यह निरंजन पशु की ही एक अवस्था है। योगी खण्ड होने पर भी कर्म की पूर्णता से शिव होता है, जीव भाव फिर उसमें रहता नहीं,

वह विदेह भी नहीं होता, वह सिद्ध खण्ड योगी होता है तथा उसकी काया शाक्त होती है। गुरु राज्य में सर्वज्ञ वैन्दव काया है, किन्तु ज्ञान के नीचे की ओर वैन्दव काया है एवं ऊपर की ओर शाक्त काया है। वैन्दव काया अमर है, शाक्त काया भी अमर है किन्तु वैन्दव काया में पहले काल सम्बन्ध संस्कार रूप से रहने तक, ज़रा रहने पर भी मृत्यु नहीं रहती, परन्तु शाक्त काया में ज़रा भी नहीं रहती। यह अजर और अमर है, यह श्रेष्ठ दिव्य काया है। दिव्य ज्ञान के बिना दिव्य काया का उदय नहीं होता। शुष्क ज्ञान से मायिक काया की निवृत्ति हो जाती है सही एवं कर्मबीज भी नष्ट हो जाते हैं।

गुरु राज्य की साधना जीव की साधना है, वह शिव होने के लिये है किन्तु ज्ञानगंज की साधना शिव की साधना है, वह परम शिव होने के लिये है। गुरु राज्य की साधना में जो षट्चक्र भेद होता है, वह जीव देह का षट्चक्र भेद है। किन्तु ज्ञानगंज की साधना में उक्त षट्चक्र का भेद नहीं करना पड़ता एवं शिवत्व लाभ के साथ ही साथ उसकी आवश्यकता भी फिर नहीं रहती। किन्तु शिवत्व लाभ होने पर ही तो सब होता नहीं शिवत्व में यदि शक्ति अन्तर्लीन रहे तो शक्ति की कोई क्रिया नहीं होती। इस प्रकार पहले होता है शिव जागरण, फिर शिव के पूर्ण शिवत्व के साथ-साथ शक्ति का जागरण। इसके बाद एक ऐसी अवस्था का उदय होगा जाग्रत शिव और जाग्रत शक्ति अभिन्न होकर प्रकाशमान होंगे तब शिव की महा निद्रा टूटेगी एवं परम शिव पृथक् सत्ता लेकर रहेंगे नहीं। पूर्ण अद्वैत सत्ता का उदय होगा। किन्तु सूर्य मण्डल का भेद न होने तक इस प्रकार की स्थिति होना सम्भव नहीं है। सूर्य मण्डल भेद कर सकने पर मध्यवर्ती सब परदे कट जाते हैं तभी अखण्ड गुरु राज्य का प्रकाश होता है। ज्ञानगंज की साधना और सिद्धि इस अखण्ड भूमि की ही प्राप्ति में सहायक है।

ज्ञानगंज के सम्बन्ध में जानकारी होने पर यह प्रश्न उठता है कि ज्ञानगंज तथा तदनुरूप अन्य स्थान वृन्दावन आदि में क्या भेद है? वृन्दावन माधुर्यमयी शक्ति साधना का श्रेष्ठ स्थान है। ज्ञानगंज कर्म भूमि है। पृथ्वी पर पार्थिव देह से आरब्ध कर्म यहाँ पूर्ण हो सकते हैं। देह का गठन उसके अनुकूल रूप में ही प्राप्त हो जाता है एवं उस कर्म के पूर्ण होने पर, जो लक्ष्य प्राप्त होना चाहिये, वह भी वहीं से आभास रूप में दृष्टिगोचर होता है। ज्ञानगंज में जैसे नूतन देह आदि प्राप्त होती है, जिसका चरम लक्ष्य ज़रा और मृत्यु से छुटकारा पाना है। वृन्दावन में भी वैसे ही भगवान् की बहिरंग अथवा अंतरंग साधना के उपयोगी भाव देह की प्राप्ति होती है एवं उस भाव देह के क्रम विकास से कभी न कभी पूर्ण रस की अभिव्यक्ति होती है। ज्ञानगंज में दिन-रात का विभाग नहीं है, वृन्दावन में भी वही बात है। ज्ञानगंज की भूमि मृत्तिका रूप नहीं है, वैसे ही

वृन्दावन की भूमि मृत्तिका रूप नहीं है, दोनों चिन्मय हैं। यह होने पर भी दोनों में भेद है। ज्ञानगंज की लक्ष्य माँ है, जिनको पाने के लिये शिव को नाभिधौती सिद्धकर परम शिव रूप धारण करता है। वृन्दावन का लक्ष्य माँ नहीं है। वृन्दावन में माँ का कोई स्थान नहीं है। यहाँ तक कि ज्ञानगंज की परम लक्ष्यभूत जो राजेश्वरी या ललिता है, वे वृन्दावन में मातृ रूप त्याग कर रासलीला की प्रधान सखी के रूप में परिगणित होती है। इसका अत्यन्त गुह्य तात्पर्य है। पूर्वोक्त ज्ञानगंज नामक पीठ की धारा मातृभाव का आलम्बन-रूप में ग्रहण कर अनन्त की ओर अग्रसर हुयी है। ज्ञानगंज के सदृश ऐसा भी एक पीठ है, जिसकी धारा में मातृभाव का स्थान नहीं है। वह धारा कान्तभाव का ग्रहण कर युगल उपासना में पर्यवसित हुयी है।

आलमन्दार संहिता के अनुसार भगवान् की लीला तीन प्रकार की है। एक वास्तविक या पारमार्थिक, एक प्रातिभासिक एवं एक व्यावहारिक। वेदान्त में जिस प्रकार सत्ता को पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक इन तीनों रूपों में विभक्त किया गया है, विज्ञानवादी बौद्धों के शास्त्र में स्वभाव को परिनिष्पन्न, परिकल्पत और परतन्त्र इन तीन नामों से विभक्त किया गया है, उसी प्रकार वैष्णवों ने भी लीला को तीन वर्गों में विभक्त किया है। इस विविध लीला का स्थान भी तीन प्रकार है—वास्तविक या पारमार्थिक लीला अक्षर ब्रह्म के हृदय में देखी जाती है, प्रातिभासिक लीला नित्य वृन्दावन में होती है एवं व्यावहारिक लीला निर्दिष्ट समय में ब्रजभूमि में होती है। अक्षर ब्रह्म का हृदय वृन्दावन है, प्रातिभासिक लीला की जो भूमि है, वह भी वृन्दावन है, एवं ब्रजभूमि भी वृन्दावन का ही नामान्तर है। किन्तु तीनों वृन्दावन होने पर भी इनमें परस्पर भेद है। अनुरूप, युक्त और परिभाषा का अवलम्बन कर कहा जा सकता है कि ज्ञानगंज में भी इस प्रकार का भेद है। जो वास्तविक ज्ञानगंज है, वह इस अक्षर ब्रह्म हृदय स्थित वृन्दावन के तुल्य ही चिन्मय प्रदेश है।

कर्म की सार्थकता एवं भक्ति की सार्थकता साधकों के जीवन में पृथक्-पृथक् है। कर्म द्वारा अधिकार-सम्पत्ति प्रबल होने पर उक्त स्थान का पता सबको लग सकता है। इस अधिकार की सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये स्थूल देह से गुरु द्वारा निर्दिष्ट कर्मराशि को पूर्ण करना पड़ता है, ऐसा पूर्ण कि जिससे आभास भी शेष न रहे। कर्म समाप्त हुये बिना आधार में बल का आधान नहीं होता, फलतः स्वरूप के महान प्रकाश को धारण करने की क्षमता प्राप्त होती है। यदि कृपा धारण करनी हो तो, उसे धारण करने की योग्यता (क्षमता) आवश्यक है। महाकृपा ही यथार्थ कृपा है, उस समय की योग्यता ही श्रेष्ठ योग्यता है। ज्ञानगंज में, केवल ज्ञानगंज में ही क्यों, प्रत्येक योग भूमि ही इस योग्यता को बढ़ाने का उपाय रखता है।

उससे कर्म क्रमशः पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता है। इसलिये गुरु राज्य, ज्ञानगंज और अखण्ड गुरु का क्षेत्र, जो भावी प्रकाश के अन्तर्गत है, सभी भूमि रूप है। पारमार्थिक ज्ञानगंज का पता सभी के लिये जानना सम्भव नहीं है। पर किसी-किसी को ज्ञानगंज का पता चलता है, ऐसा जो सुनाई पड़ता है, उसका व्यावहारिक ज्ञानगंज से ही सम्बन्ध है।

❀

५

महाशक्ति का स्वरूप

महाशक्ति जगदम्बा का परम रूप अखण्ड और स्वयं प्रकाश चैतन्य है। इसका सिद्ध योगियों ने संवित् अथवा प्रतिभा के रूप में वर्णन किया है। किसी देश अथवा समय में किसी कारण से भी इस स्वरूप का अपलाप नहीं होता। भगवती का जो परम स्वरूप है वही सामान्य ज्ञानात्मक परा प्रतिभा है। वही मूल रूप है, एवं देश काल, आकार, निमित्त आदि द्वारा अनवछिन्न है इसको आश्रय करके ही प्रत्यक्ष सिद्ध समग्र जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय होती है। इस अखण्ड महाप्रकाश में बिम्ब वैचित्र्य का भान कैसे होता है? माया रूप निमित्त को आश्रय कर पर संविद् रूप आधार में अनन्त वैचित्य फूट पड़ता है। इस जगदाकार देह में, जिसका मन अविद्या से आवृत है, वह विश्व रूप अनन्त आकारों का दर्शन करता है। किन्तु ये सब आकार जिसका आश्रय कर प्रकाशित होते हैं, उसे देख नहीं पाते। विद्या के प्रभाव से अविद्या की निवृत्ति होने पर, अर्थात् योग अवस्था प्राप्त होने पर उस संविद् रूप तत्व का दृष्यमान द्वैताकार वर्जित किंवा निर्विकल्प रूप से भान होता है। आत्म तत्व देश और काल द्वारा अवछिन्न न होने के कारण गम्भीर और निश्चल समुद्र के तुल्य, निश्चल स्वरूप में अर्थात् अनन्त अद्वय रूप में योगियों को प्रकाशित होता है। जो परमात्म तत्ववेत्ता भक्त हैं, वे इस विशुद्ध आत्म तत्व का ही भजन करते हैं। इस भजन में कपट एवं बनावट नहीं है, क्योंकि स्वभावतः आत्मा ही तो सबकी अपेक्षा प्रिय है। इसका नाम अद्वैत भक्ति है। यह अद्वितीय परमात्मा वस्तुतः सभी का अपना आत्मा है। यहाँ सेवक-सेव्य भाव नहीं है। किन्तु ज्ञानी भक्त भेदभाव का आहरण कर सेवक-सेव्य भाव की रचना करते हैं। वे आत्म स्वरूप अद्वय पद की प्रत्यक्ष उपलब्धि करके भी स्वभाव अथवा चित्त की सरसतावश ऐसा करते हैं। वासना के वैचित्य से ही ऐसा होता है।

भगवती का परम रूप केवल भासक मात्र है, किन्तु भास्य नहीं है। यह जो भान अथवा प्रकाश की बात कही गयी है, यही परम चैतन्य रूपा परमेश्वरी महाशक्ति जगदम्बा है, यह एक और अद्वितीय है, यह द्वैत का लेशमात्र भी सहन नहीं करती। इस अखण्ड चिदेकरस स्वरूप में स्वातंत्र्यवश वैचित्र्यमय विश्व प्रतिभासमान होता है। विश्व ही द्वितीय रूप में प्रतिभासमान होता है—वस्तुतः वह एक से अभिन्न है, वही प्रतिबिंब है। प्रतिबिंब चाहे रहे या न रहे चैतन्य का स्वरूप

सदा ही निर्विकल्प है। सृष्टिकाल में प्रतिबिंब भासता है। किन्तु प्रलय काल में वह नहीं भासता। इससे प्रतीत होता है कि संवित् स्वरूपतः सर्वदा निर्विकल्प एकरस रहने पर भी स्वातन्त्र्यवश अपने में स्वयं ही बाह्य भाव का स्फुरण करती है।

वह परा संवित् ही माँ का स्वरूप है। अपनी आत्मा का शुद्ध रूप जानने पर ही माँ को प्रायः जाना जाता है। आत्मस्वरूप दृष्य भी नहीं है और वाच्य भी नहीं है, इसलिये इसके सम्बन्ध में साक्षात् उपदेश भी नहीं हो सकता। आत्मदर्शन में आचार्य तथा गुरु का साक्षात् कोई उपयोग नहीं है। यह परा संवित् अथवा आत्मा ही महाशक्ति 'माँ' है। ये सर्वदा विकल्प विहीन है। दर्पण जैसे सर्वदा ही दर्पण है, प्रतिबिम्ब चाहे भासे अथवा न भासे, दर्पण जैसे दर्पण ही रहता है—जैसे प्रपंच के संहार काल में चैतन्य निर्विकल्प रहता है, वैसे ही सृष्टि अथवा प्रपंच के प्रकाशकाल में भी वह निर्विकल्प ही रहता है। सृष्टि और संहार में चैतन्य में कोई विकार नहीं आता। चैतन्य सदा चैतन्य ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

भगवती जगदम्बा का परम रूप अखण्ड एकरस चैतन्य है, यह कहा जा चुका है। किन्तु उनका अपर रूप भी तो है। उनका परम रूप निराकार है, किन्तु अपर रूप साकार है। योगी लोग कहते हैं कि उनके अनन्त साकार रूप हैं। किन्तु उन सब रूपों के ऊपर एक प्रधान रूप जिसकी तुलना में अन्य सभी रूप, अप्रधान रूप में परिगणित होते हैं। यह प्रधान रूप एक और अभिन्न है। यदि इसे सब अप्रधान अपर रूपों के शिखर में स्थित कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यह अपर रूप एक होने पर भी किस प्रकार का है, उसका भाषा द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि रुचि भेद से, वासना भेद से और दृष्टि भेद से वह शिखर स्थित एक ही रूप विभिन्न भक्तों के निकट तत् तत् रूपों से प्रतिभात होता है।

भगवती के परम धाम रूप का यदि पता लगाना हो तो, तो विश्व संस्था की एक धारणा रहना आवश्यक है। हम जिसको ब्रह्माण्ड कहते हैं, उसमें चौदह भुवन विद्यमान हैं। उनमें सात ऊपर के भुवन और सात अधो भुवन है। पाताल, नरक आदि अधो भुवनों के अन्तर्गत हैं। भूलोक से सत्यलोक पर्यन्त ऊपरी भुवन कहे जा सकते हैं। अन्तरिक्ष और स्वर्गादि इन्हीं के अन्तर्गत हैं। इन सबको लेकर ही ब्रह्माण्ड है। उनके सिवा ऊपर में अन्यान्य विभाग भी हैं। उनमें शुद्ध और अशुद्ध स्तरों का विन्यास भी दिखायी देता है। इन सबको मिलाकर विश्वराज्य है। इसके बाहर सृष्टि का कोई भी निदर्शन नहीं है। अनन्तव्यापी ज्योतिराशि विद्यमान रहती है। इस ज्योति के ऊपर अपरिच्छिन्न चिदाकाश विद्यमान है। योगियों के अनुसार चिदाकाश के मध्य में दिगन्त तक फैला हुआ एक महासमुद्र विद्यमान है। उसका सुधा सिन्धु अथवा अमृत समुद्र के रूप में वर्णन किया गया है। इस महासमुद्र के मध्य में केन्द्र स्थान में नवरत्न मणियों से रचित नौ

खण्डों का एक द्वीप है। उसे मणिद्वीप कहते हैं। इस द्वीप के मध्य में कदम्बवन है। उसमें चिन्तामणि-गृह अथवा मन्दिर है। उस मन्दिर में पंच ब्रह्ममय मंच है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर, ये मंच के चार पाद हैं। मंच के ऊपर फलक के रूप में सदाशिव हैं। यही मुख्य आसन है। इस आसन पर परम चैतन्यमय परमेश्वर और परमेश्वरी अभिन्न रूप से विराजमान हैं। ये साधकों के निकट परम पुरुष और परमा प्रकृति के रूप में परिचित हैं। यही विश्वजननी का प्रधान अपर रूप है। भगवती अथवा भगवान् का जो परम स्वरूप है, वह निराकार संवित् मात्र है—सृष्टि के प्रारम्भ में वह निराकार संवित् सी नित्य युगल रूप में अपने को प्रकट करती है।

सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा ये अधिकारी पुरुष हैं। माँ के अनुग्रह आदि पंच कृत्यों का सम्पादन ये ही करते रहते हैं। ये सभी माँ के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं, यह कहना व्यर्थ है। इनके अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, दिगपाल, कुमारी लक्ष्मी आदि शक्तियाँ एवं यक्ष, राक्षस, असुर, नाग आदि में पूज्य रूप सभी वस्तुतः माँ के ही रूप हैं। उनकी माया से मोहित होकर लोग उन्हें पहचान नहीं पाते। उनके अतिरिक्त पूज्य अथवा फलदायक कोई नहीं है। जो जिस भाव से उनकी भावना करता है, वह उस भाव से फल प्राप्त करता है। वास्तव में वे विभिन्न रूपों में विभिन्न देशों में जीवों पर अनुग्रह करने के लिये विद्यमान हैं। मूल में सब रूप उन्हीं के रूप हैं। शास्त्र के अनुसार वे कांची में कामाक्षी रूप से, विन्ध्याचल में विंध्यवासिनी रूप से, केरल में कुमारी रूप से, गुजरात में अम्बा रूप से, प्रयाग में ललिता रूप से, वाराणसी में विशालाक्षी के रूप में, गंगा में मंगलावती के रूप में, बंगाल में सुन्दरी के रूप में, नेपाल में गुह्येश्वरी रूप में विराजमान हैं।

माँ का मुख्य ऐश्वर्य अपरिच्छिन्न है। स्वरूप से अतिरिक्त किसी कारण की अपेक्षा न करके ही वे जगत् के रूप में स्फुरित हो रही है। इन सब आकारों को उनके स्वांश अथवा उनसे भिन्न भी कहना नहीं बनता। क्योंकि वे अखण्ड चिन्मय है, अतः उनका कोई अंश नहीं है। वे अदृष्य चिन्मय स्वरूप में स्थित रहकर भी अनन्त जगत् के आकार में स्फुरित हो रही हैं और अनन्त जगदाकार से स्फुरित होकर भी अद्वैत चित्स्वरूप से स्खलित नहीं होती है। यही उनका ऐश्वर्य है। विचित्र जगदाकार प्रतिबिम्बतुल्य है। अतः वे नित्य ही निर्विकार हैं। माँ के अवान्तर ऐश्वर्य की भी गणना नहीं होती। ऐश्वर्य मात्र ही अघटित घटना का सामर्थ्य है। परमस्वातन्त्र्य रूपा स्वमाया द्वारा वे अपने को अज्ञानावृत्त करती हैं एवं अनादि जन्म-मृत्यु प्रवाह में पड़ती हैं। अर्थात् संसारी का स्वांग रचती हैं। तदन्तर शिष्य भाव को प्राप्त होकर पुनः गुरु के निकट आत्म तत्व जानकर नित्य मुक्त होकर भी फिर मुक्त होती हैं। यह अविद्या मायिक होने से सचमुच बन्धन नहीं है, इसलिये वे

नित्यमुक्त हैं। उपादान के बिना अनन्त वैचित्र्यमय जगत् का निर्माण करती है, यही उनका ऐश्वर्य है। उनके इस प्रकार के अगणित ऐश्वर्य हैं। माँ के अप्रधान परम धाम की बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु उनके खण्ड खण्ड धाम कितने हैं, इसका कोई निर्णय नहीं कर सकता।

यह माँ ही गुरु रूप में भावना करने योग्य है। इन नौ द्वारों में दो नेत्र और वाक् ये तीन दिव्यौध हैं और दो चक्षु और उपस्थ ये तीन सिद्धोध हैं एवं दो नासिकायें और पापु ये तीन मानवौध हैं। देह के ये नौ रन्ध्र ही नव नाथों के स्वरूप हैं। शिवसूत्र वार्तिक में भी परमेश्वर की अनुग्रहात्मिका परा शक्ति को ही गुरु कहा जाता है। अत: माँ और गुरु अभिन्न हैं।

भगवती के प्रधान अपर रूप और पर रूप नहीं शिव शक्ति का युगल रूप है। इस युगल रूप से क्रमश: अद्वय स्वरूप में जाना ही गुह्य साधना का इतिहास है। युगल रूप में परमा प्रकृति परम पुरुष के अंकगत है। शक्ति शिव में आश्रित है, यही पंचदशी का स्वरूप है। किन्तु जब तक शक्ति शिव के आश्रय का परित्याग कर, शिव को शव रूप में अथवा सुप्त में छोड़कर शिव से ऊपर की ओर उद्गत नहीं होती, तब तक पंचदशी से षोडशी में जाने की कोई आशा नहीं है। पंचदशी काल चक्र से अतीत है, यह सत्य है, किन्तु अतीत होकर भी वह वस्तुत: अतीत नहीं है। शिव शक्ति को अंक में धारण किये हुये है। यह योग की अवस्था है। षट्चक्र भेद होने पर सहस्रदल कमल के बिन्दु से इस अवस्था का उदय होता है। इस जगह शक्ति पंचदशी अवस्था के अन्तर्गत है। किन्तु षोडशी अवस्था को तभी प्राप्त हो सकती है, जब शिव परम शिव के रूप में उसको धारण करने की योग्यता प्राप्त करते हैं, एवं चैतन्य या शक्ति नाभिद्वार से बाहर निकल कर प्रकाशमान होती है। शक्ति तब अकेली रहती है, शिव जड़ रहते हैं। वह उन्मुक्त शक्ति उनकी अधिष्ठात्री है।

आद्या शक्ति सर्वतत्वमयी प्रपंच रूपा हैं और सर्वतत्वों के अतीत हैं। वह नित्य परमानन्द रूप तथा चराचर की बीज स्वरूप हैं। अहम् शिव का स्वरूप है, अहमाकार ज्ञान अथवा विमर्श शक्ति का स्वरूप है। आद्या शक्ति ही शिव के स्वरूप ज्ञान के प्रकाश के लिये, निर्मल दर्पण रूप है। अहंज्ञान ही शिव का स्वरूप ज्ञान है। आद्या शक्ति से ही उसका प्रकाश होता है। दर्पण जैसे सन्निकट वस्तु के सम्बन्ध में बिना अपने भीतर प्रतिबिम्ब को अवभासित नहीं कर सकता, वैसे ही पराशक्ति भी परम शिव के सम्बन्ध के बिना अपने भीतर स्थित प्रपंच को प्रकटित नहीं कर सकती। इसीलिये केवल शिव या शक्ति द्वारा जगत् का निर्माण कार्य नहीं हो सकता। दोनों का सहयोग चाहिये। दोनों का सम्बन्ध होने से ही सब तत्वों का उदय होता है। वास्तव में शिव और शक्ति एक ही तत्व हैं। जब

परा शक्ति स्वेच्छापूर्वक विश्व की सृष्टि करती है, तब चक्र उत्पन्न होता है। जो विश्व उन्हीं के भीतर अव्यक्त भाव से निहित था, तब वह फूट पड़ता है। परा शक्ति का विश्वरूप धारण करना ही विश्व सृष्टि है। यही उनकी स्फुरता है। इस सृष्टि व्यापार में शिव तटस्थ या उदासीन रहते हैं। तत्वातीत सत्ता शान्त, शिव और निष्क्रिय है। उससे तत्वमय चक्र कैसे आविर्भूत होते हैं? यहीं पर परा शक्ति की आवश्यकता समझ में आयगी। परा शक्ति की इच्छा ही मूल है। इसीलिये चक्रावतार में शक्ति का प्राधान्य स्वीकार करना पड़ता है।

अतएव परा शक्ति एक ओर है और उसकी स्फुरता दूसरी ओर। स्फुरता ही सृष्टि का रूप है। सर्वतत्वमय विश्व की सृष्टि, विश्वमय परदेवता चक्र का आविर्भाव और परा शक्ति के द्वारा अपनी स्फुरता का दर्शन एक ही बात है। इस आविर्भाव में स्वरूपतः क्रम न रहने पर भी बुद्धि द्वारा एक क्रम वह चाहे जिस किसी प्रकार का ही क्यों न हो, स्वीकार करना पड़ता है। यह क्रम निम्नांकित रूप में प्रदर्शित किया जाता है—

१. तत्वातीत प्रकाश या शिव। यह निराकार और शून्य रूप (अ) है।
२. द्वितीय अवस्था है, शिव शक्ति का सामरस्य। यह काम अथवा रवि है। यह अग्नीषोमात्मक बिन्दु है। शिव=अ उ, शक्ति=ह। दोनों का सामरस्य ही यह बिन्दु है।
३. तदनन्तर बिन्दु का स्पन्दन अथवा संसरण होता है। इसी का नाम शुक्ल बिन्दु और रक्त बिन्दु है।
४. पूर्वोक्त संसरण से जो अभिव्यक्त होता है, उसका नाम संवित् है। यह चिन्मयी और अग्नीषोमात्मिका है। इसका नाम चित्कला है। अग्नि के सम्पर्क से जैसे घी पिघलकर बहता है, वैसे ही प्रकाश के सम्बन्ध से परा शक्ति या विमर्श का स्राव होता है। स्राव होने पर ही लहरें अथवा तरंगें उठती हैं। वहीं दो बिन्दुओं के मध्य स्थित हार्द्ध कला है।
५. इस हार्द्ध कला युक्त प्रकाश से ही वैन्दव चक्र का प्रसार होता है। उक्त प्रकाश को ही काम कलाक्षर कहते हैं। अतएव बिन्दु से ही वैन्दव चक्र होता है सही, किन्तु बिन्दु का स्पंदन होना चाहिये। यह वैन्दव चक्र ही मध्य त्रिकोण और विश्व जननी का निज स्थान है जिससे समस्त विश्व का आविर्भाव क्रमशः होता है।

निर्विशेष चिन्मात्र का प्रथम परिणाम ही कामकलाक्षर है। यही महाशक्ति माँ का आविर्भाव है। इसके अनन्तर उनका सकल भुवन साम्राज्य के अधिकार के विषय में स्वातन्त्र्य लाभ होता है।

६

शक्ति-साधना

साधन मार्ग में प्रविष्ट व्यक्ति जानते हैं कि साधना मात्र ही शक्ति की साधना है। किसी भी मनुष्य की अन्तर्दृष्टि के सम्मुख चाहे कैसा भी आदर्श लक्ष्य रूप में प्रतिष्ठित क्यों न हो, यदि वह शक्ति संचय करते हुये अपनी दुर्बलता का परिहार न कर सके, तो सम्यक् रूप से उस आदर्श की उपलब्धि कर उसे आत्म स्वरूप में परिणत करने में समर्थ न होगा। समस्त सिद्धियाँ शक्ति सापेक्ष हैं। अतः साधक को चाहे जैसी सिद्धि अभीष्ट हो, उसका आत्मशक्ति के अनुशीलन बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट है कि शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य अथवा अन्य किसी भी देवता की उपासना मूलतः शक्ति की ही उपासना है। इस तरह वैष्णवादि समस्त सम्प्रदायों की सारी साधनायें शक्ति-साधना के अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त साक्षात् भाव से भी शक्ति की साधना हो सकती है।

स्थूल सूक्ष्म और कारण जगत् शक्ति के विकास स्तर हैं। शक्ति के इन तीनों विभागों अर्थात् आत्मा, देवता और भूत रूप में शक्ति की तीन प्रकार की अवस्थिति का अनुसरण करते हुये, उसका परिणाम स्वरूप जगत् भी कारणादि विविध रूपों में प्रकट होता है। शक्ति के बहिर्मुख होकर घनीभाव तथा स्थूल तत्व को प्राप्त करने पर एक ओर जहाँ भौतिक तत्वों का आविर्भाव होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार वह क्रमशः विरल होते-होते अंतःसंकोच अवस्था को प्राप्त कर आत्मा अथवा बिन्दु पद की वाच्य हो जाती हैं। अतएव तथाकथित आत्मा, देवता और दूत एक ही आद्या शक्ति की त्रिविध अवस्था मात्र है। वैसे ही कारण, लिंग तथा स्थूल—यह त्रिविध जगत् भी एक ही मूल सत्ता के तीन प्रकार के परिणाम के सिवा और कुछ नहीं हैं। शक्ति और सत्ता के वैषम्य से ही जगत् की सृष्टि तथा सम्भोग, अर्थात् ईश्वर भाव और जीव भाव का उन्मेष होता है। किन्तु जब साम्य का उदय होता है, तब एक ओर जहाँ जीव और ईश्वर का पारस्परिक भेद तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार दूसरी ओर सृष्टि और दृष्टि एकार्थ बोधक व्यापार हो जाते हैं। तब भूमि भेद के अनुसार साम्य की उपलब्धि होते-होते, त्रिविधि साम्य के बाद स्वाभाविक नियम से परमाद्वैत अथवा महासाम्य का आविर्भाव होता है। जो शक्ति और सत्ता स्थूल भूमि में

आत्म प्रकाश किये हुये हैं, उसका साम्य ही प्रथम साम्य है। उसी प्रकार सूक्ष्म और कारण जगत् के सम्पर्क में रहने वाली शक्ति और सत्ता का साम्य क्रमशः द्वितीय और तृतीय साम्य के नाम से पुकारा जाता है। यह त्रिविधि साम्य पारस्परिक भेद का परिहार कर, जिस महासाम्य में एकत्व लाभ करता है, वही परमाद्वैत या ब्रह्मतत्व है। महाशक्ति के उद्‌बोधन के बिना इस अद्वैत तत्व में स्थिति लाभ करना तो दूर रहा, प्रवेशाधिकार पाने की भी सम्भावना नहीं है। भूमि भेद से प्रत्येक स्तर में शक्ति के उद्‌बोधन की आवश्यकता है।

इस प्रकार शक्ति की आराधना के बिना एक ओर जिस प्रकार स्थूल भाव को आयत्त नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दूसरी ओर आत्म सत्ता की भी उपलब्धि नहीं हो सकती। पृथ्वी में जितने प्रकार के धर्म सम्प्रदाय हैं, जान में हों या अनजान में अथवा साक्षात् रूप से हों या पारस्परिक भाव से हों, शक्ति की आराधना किये बिना किसी का काम नहीं चलता।

यह अनन्त वैचित्र्यमय विश्व, जिसे हम निरन्तर नाना प्रकार से अनुभव करते हैं, वस्तुतः वह शक्ति के आत्म प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सुसूक्ष्म कारण जगत्, लिंगात्मक सूक्ष्म जगत् और इन्द्रिय गोचर स्थूल जगत्, शक्ति के ही विभिन्न विकास मात्र हैं। इस विश्व के मूल में जो पूर्ण सत्ता पारमार्थिक रूप में वर्तमान है, वही शक्ति का परम रूप है। विशुद्ध चैतन्य के नाम से वर्णन करने पर भी इसका ठीक परिचय नहीं दिया जा सकता, सच्चिदानन्द शब्द से वर्णन करने पर भी, इसका ठीक-ठीक निर्देश नहीं किया जा सकता। इस वाणी और मन के अगोचर, अवर्णनीय परमार्थ सत्ता को ही शास्त्र में 'परमपद्' कहा है। यह सत् है या असत्—यह विषय लौकिक विचार के विषयीभूत होने पर भी विचार दृष्टि से देखने पर आलोचना प्रसंग से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें प्रकाश और विमर्श—ये दोनों अंश अविनाभूत रूप में वर्तमान हैं। प्रकाश के बिना जिस प्रकार विमर्श असम्भव है, उसी प्रकार विमर्श को त्यागकर प्रकाश की स्थिति भी सम्भव नहीं है। यह शिव शक्ति रूप प्रकाश और विमर्श का नित्य सम्बन्ध ही, चैतन्यरूप से महापुरुषों की अनुभूति में आता है तथा शास्त्रों में प्रचारित होता है। परन्तु चैतन्य होने पर भी वह प्रकाश और विमर्श की साम्यावस्था में अव्यक्त ही रह जाता है। इसी अवस्था का दूसरा नाम परमपद् है, इसमें सन्देह नहीं है। इस साम्यावस्था में महाशक्ति स्वरूपा अनादि शक्ति परम शिव के साथ सामरस्य भावापन्न होकर अद्वय रूप में विराजमान रहती है। स्वरूप दृष्टि से इस अवस्था को एक प्रकार से परब्रह्म भाव का ही नामान्तर कहा जा सकता है। परन्तु इसमें इसके स्वरूप भूत स्वातन्त्र्य के नित्य वर्तमान रहने के कारण, यह ब्रह्म तत्व से विलक्षण ही है। महाशक्ति स्वरूप इस परमपद् की

जो बात यहाँ कही गयी है, उससे कोई भ्रमवश यह न समझे कि यही निष्कल अथवा पूर्णकल परमेश्वर है। क्योंकि निष्कल, निष्कल सकल तथा सकल ये विश्व की ही तीन अवस्थायें हैं। परन्तु महाशक्ति सर्वातीत होने के कारण विश्वातीत परमपद् से इसी स्वातन्त्र्य रूप आत्म विलास से नित्य साम्य के भग्न न होते हुये भी एक प्रकार की भग्नवत् अवस्था का उद्‌भव होता है तथा इस वैषम्य के फलस्वरूप गुणप्रधान भाव में छत्तीस तत्व से समन्वित विश्व का आविर्भाव होता है। अखण्ड परमार्थ स्वरूप शिव शक्ति से अभिन्न होते हुये भी, स्वातन्त्र्य जनित विक्षोभ के कारण उसके द्वारा अथवा उसी में भेदमय विश्व प्रपंच का उदय होता है। अतएव त्रिविध विभाग विशिष्ट समस्त विश्व मूलतः शक्ति का ही विकास है।

पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी, शब्द की जिन अवस्थाओं के विषय में कहा गया है, वही प्रणव के 'अ'कार 'उ'कार और 'म'कार है, अथवा ऋक्, यजुः और साम इस वेद त्रय के रूप में ज्ञानी की दृष्टि में प्रतिभात होते हैं। त्रिलोक, त्रिवेदता प्रभृति अखण्ड परावाक् अथवा तुरीयवाक् का ही त्रिविध परिणाम मात्र है। बिन्दुगर्भित जो महात्रिकोण समस्व विश्व ब्रह्माण्ड के मूल रूप में शास्त्रों में सर्वत्र व्याख्यात हुआ है, इसी चतुर्विध शब्द के सम्बन्ध से प्रकटित होता है। इस त्रिकोण की तीन रेखायें पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी रूप तीन प्रकार के शब्द, सृष्टि स्थित और संहार रूप तीन प्रकार के व्यापार, ज्येष्ठा और रौद्री क्रिया रूप तीन प्रकार के शिवांश, अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन शक्त्यंश की प्रतिनिधियाँ हैं। त्रिकोण का मध्य बिन्दु परावाक् अथवा अम्बिका और शात्ता इन दो शिव शक्त्यंश का साम्य भावापन्न स्वरूप है। यद्यपि बिन्दु में शिव और शक्ति दोनों का ही अंश है, एवं त्रिकोण में भी वही है। तथा बिन्दु प्रधानतः शिव रूप में परिणत हो जाता है। इस बिन्दु समन्वित त्रिकोण मण्डल से समस्त बाह्य जगत् का आविर्भाव होता है।

आद्या शक्ति, प्रकाशात्मक शिव के स्वरूप जान का उद्‌बोधक दर्पण स्वरूप है। आद्या शक्ति का आश्रय लिये बिना इस आत्म ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता। पराशक्ति प्रकाश स्वरूप परम शिव के सान्निध्य के बिना अपने अन्तःस्थित विश्व प्रपंच को प्रकटित करने में समर्थ नहीं होती। इसी कारण शुद्ध शिव और शुद्ध शक्ति परस्पर सम्बन्ध रहित होकर अकेले जगत् के निर्माण का कार्य नहीं कर सकते। दोनों की आपेक्षिक सहकारिता के बिना सृष्टि कार्य असम्भव है। इसका आशय यह कदापि नहीं है कि शिव और शक्ति अथवा प्रकाश और विमर्श परस्पर विभिन्न और स्वतंत्र पदार्थ हैं। तथापि संहार कार्य में शिव का और सृष्टि कार्य में शक्ति का प्राधान्य स्वीकार करना होगा। पराशक्ति स्वतंत्र होने के कारण,

परावाक् प्रभृति क्रम का अवलम्बन कर विश्व सृष्टि का कार्य सम्पादन करती है, तत्पश्चात् सृष्ट विश्व के केन्द्र स्थान में अवस्थित होकर उसका नियमन करती है। यही स्वातन्त्र्य उपर्युक्त रीति से क्रमशः इच्छा, ज्ञान, क्रिया का आकार प्राप्त कर वैचित्र्य का आविर्भाव प्राप्त करता है और विश्व रूप धारण करता है। शिव तटस्थ और उदासीन रहकर निरपेक्ष साक्षिरूप में आत्मशक्ति की यह लीला देखा करते हैं। यह नाना तत्व मय विश्व सृष्टि ही पराशक्ति का स्फुरण है।

सृष्टि के आदि में अनादिकाल से जो अव्यक्त, पूर्ण निराकार और शून्य स्वरूप वस्तु विराजमान है, वह तत्वातीत, प्रपंचातीत तथा व्यवहार पथ के भी अतीत है। वही शाक्तों की महाशक्ति है और शैवों के परम शिव। वाणी और मन के अगोचर होने के कारण, इसका वर्णन न तो कोई कर सका है और न आगे कर सकने की सम्भावना है।

शक्ति साधना का मूल सूत्र नादानुसन्धान अथवा शब्द का क्रमिक उच्चारण है। बिन्दु या कुण्डलिनी विक्षुब्ध होकर नाद का विकास करती है। पूर्ण परमेश्वर की स्वातन्त्र्य रूप शक्ति से बिन्दु का विक्षोभ कार्य सम्पन्न होता है। इसी का दूसरा नाम गुरु कृपा या परमेश्वर का अनुग्रह है। इस चिदाकाश स्वरूप बिन्दु को दूसरी कोई निम्न भूमिस्थ शक्ति विक्षुब्ध नहीं कर सकती। ज्ञान संचार के साथ ही साथ आज्ञा चक्र का भेदन हो जाता है या यों कहिये कि आज्ञा चक्र का भेदन करने से ज्ञान का उदय होता है। आज्ञा चक्र के बाद ही बिन्दु स्थान है, यह बिन्दु योगियों का तृतीय नेत्र अथवा ज्ञान चक्षु कहलाता है। इसी बिन्दु से ज्ञान भूमि की सूचना मिलती है। चित्त को एकाग्रकर उपसंहृत किये बिना, अर्थात् विक्षिप्त अवस्था में, बिन्दु में स्थिति नहीं हो सकती है। बिन्दु अवस्था में स्थित होने पर भी यथार्थ लक्ष्य की प्राप्ति में अनेक व्यवधान रह जाते हैं। यद्यपि बिन्दु भूमि में साधक अहंभाव से प्रतिष्ठित होकर, निम्नवर्ती समस्त प्रपंच को निरपेक्ष भाव से देखने में समर्थ होता है, तथापि जब तक बिन्दु में पूर्णतः अहंभाव का विसर्जन अथवा आत्म समर्पण नहीं करता तब तक महाबिन्दु अथवा शिवभाव की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। बिन्दु के बाद उल्लेख्य योग्य प्रधान चक्र विन्दु अर्ध अथवा अर्धचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध है। बिन्दु को चन्द्र बिन्दु कहा जाता है इसलिये यह अवस्था अर्धचन्द्र नाम से वर्णित है। इसी अवस्था में अष्टकला शक्ति का विकास होता है। इसके बाद नव कला के क्षीण होने पर एक अवरोधमय घोर आवरण स्वरूप विलक्षण अवस्था का उदय होता है। बड़े-बड़े देवताओं के लिये भी इस स्तर का भेदन करके ऊपर उठना कठिन है। परन्तु अनुग्रह शक्ति के विशिष्ट प्रभाव से भाग्यवान साधक इस चक्र का भेदन कर ऊपर उठने में समर्थ होता है। शास्त्र में यह अवस्था 'रोधिनी' नाम से प्रसिद्ध है। इस आवरण का भेद करने से ही साधक नाद भूमि में उपनीत होता है। नाद चैतन्य का

अभिव्यंजक है। अतः इस अवस्था में चित् शक्ति क्रमशः अधिकतर स्पष्ट हो जाती है। ब्रह्मरन्ध्र के जिस स्थान में नाद का लय होता है, यह वही स्थान है। इसके बाद साक्षात् चित् शक्ति का आविर्भाव होता है। इसी शक्ति से समस्त भुवन विधृंत हो रहे हैं। इस अवस्था के आगे त्रिकोण स्वरूपा 'व्यापिका' है, वह बिन्दु के विलास स्वरूप वामादि शक्ति त्रय से संघटित है। तदनन्तर सर्वकारणभूता समना शक्ति का आविर्भाव होता है। यह शिवाधिष्ठित है और समस्त ब्रह्माण्डों की भरणशीला है। एतदारूढ़ शिव ही परम कारण और पंचकृतकारी है। यह चिदानन्दारूपा पराशक्ति है, यहीं मनोराज्य का अन्त होता है। इसके आगे मन, काल, देश, तत्व, देवता तथा कार्यकारण भाव सभी सदा के लिये तिरोहित हो जाते हैं। जो जपादि क्रिया के द्वारा नाद के उत्थान का अभ्यास करते हैं, वे जानते हैं कि आज्ञा चक्र पर्यन्त अर्थात् जहाँ तक वर्णमाला का आवर्तन होता है, वहाँ तक उच्चारण अथवा ऊर्ध्वचालन का काल एक मात्रा से न्यून नहीं हो सकता। बिन्दु में वह अर्ध मात्रा में पर्यवसित होता है। इसके बाद वह क्रमशः क्षीण होते-होते समना भूमि में एक क्षण के रूप में परिणत होता है। इसके आगे मन के स्पन्दन शून्य हो जाने के कारण देश काल नहीं रह जाते तथा समस्त मानसिक विक्षोभ या कल्पना जाल के उपशान्त होने पर, निर्विकल्प निवृत्ति भाव का उदय होता है। यह निवृत्ति भाव होने पर भी देश काल और निमित्त के अतीत तथा मनोभूमि के अगोचर होने पर भी वस्तुतः नितान्त निष्कल अवस्था नहीं है; क्योंकि इस अवस्था में, इसमें विशुद्ध चिद्रूपा एक कला शेष रहती है, जो निर्वाण कला रूप से शास्त्र में प्रसिद्ध है, योगिजन जिसे द्रष्टा या साक्षिचैतन्य के नाम से पुकारते हैं। सांख्य का कैवल्य अवस्था की सूचना देता है; क्योंकि सांख्य की प्रकृति पंचदशकलामिका है, और उसका पुरुष षोडशी या निर्वाण कला रूप है। इस कला के ऊपर उठे बिना महाबिन्दु या परमात्म स्वरूप शिवत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। सांख्य भूमि के अग्रसर होने पर वेदान्त की साधना होती है। इस एक कलामात्राविशिष्ट निर्वाण भूमि व उन्मना भूमि को पार कर महाबिन्दु रूप पूर्णहन्तामय अवस्था में पदार्पण करना पड़ता है। पूर्णहन्ता स्वरूप शिव भाव की स्फूर्ति होने पर जब इसका भी परिहार होता है, जब बिन्दु का क्रमशः क्षय होते-होते उन्मनी अवस्था का अवसान होने पर बिन्दु शून्य हो जाता है, तब पूर्ण स्वरूप महाशक्ति का आविर्भाव होता है। अर्थात् महाबिन्दु के पूर्ण रूप में स्थित होने पर उसमें पराशक्ति की नित्य अभिव्यक्ति होती है। पक्षान्तर में महाबिन्दु के रिक्त हो जाने पर परम शिव का आविर्भाव होता है। वस्तुतः शिव शक्ति के विभिन्न न होने के कारण तथा महाबिन्दु की पूर्ण और रिक्त अवस्था भी नित्य सिद्ध होने के कारण, शून्य और पूर्णत्व का आविर्भाव नित्य ही मानना होगा। जो रिक्त दिशा है, लौकिक दृष्टि से वही अमावस्या है और जो पूर्ण दिशा है, वही

पूर्णिमा है। महाशक्ति के प्राधान्य को अंगीकार कर अमावस्या की ओर जो उसकी स्फूर्ति होती है, वही काली रूप से तथा जो पूर्णिमा की ओर स्फूर्ति होती है, वही षोडशी, त्रिपुरसुन्दरी या श्रीविद्या रूप से साधक समाज में परिचित होती है। काली कुल और श्री कुल का यही गुप्त रहस्य है।

जब तक गुरु की कृपा दृष्टि से कुण्डलिनी शक्ति का उद्‌बोधन तथा सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश नहीं हो जाता, तब तक उपासना का अधिकार नहीं उत्पन्न होता। मूलाधार से आज्ञा चक्र पर्यन्त चक्रेश्वरी रूप में शक्ति की आराधना ही निकृष्ट उपासना है। परन्तु जो साधक इन्द्रिय और प्राण की गति का अवरोध कर कुल पथ में प्रविष्ट नहीं हो सकता, उसके लिये देवी की अधम उपासना भी सम्भव नहीं है। साधक क्रमशः अधम भूमि से यथाविधि साधना द्वारा निर्मलचित्त और मध्यम भूमि की उपासना का अधिकारी होता है। तदन्तर उत्तम अधिकार प्राप्त कर भगवती की अद्वैत उपासना से सिद्धि लाभ करता है। मनुष्य जब तक द्वन्द्वमय भेद राज्य में वर्तमान रहता है तब तक उसके लिये निम्न भूमि की उपासना स्वाभाविक है। कर्म ही इसका रूप है। चतुरस्र से वैन्दव चक्र-पर्यन्त अथवा मूलाधार से सहस्र दल कमल पर्यन्त आवरण देवतादि सहित समग्र देवी चक्र की उपासना ही कर्मात्मक अपरा पूजा है। इस पूजा, अर्थात् षट्‌चक्र के क्रिया रूप अनुष्ठान का अवलम्बन कर अग्रसर न हो सकने से चित्त में कदापि अभेद ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। स्वयं शंकर भी भगवती की अपरा पूजा किया करते हैं। यह महाजनों का सिद्धान्त है। इसीलिये ज्ञानी के लिये भी चक्र पूजा उपेक्षणीय नहीं है। साधक अपनी देह में विभिन्न प्रकार के गणेश, ग्रह, नक्षत्र, राशि, योगिनी एवं पीठ का विधिपूर्वक न्यास या स्थापन कर सकने पर केवल इसी के प्रभाव से साक्षात् परमेश्वर-तुल्य अवस्था प्राप्त कर सकते हैं।

निम्न भूमि की उपासना के प्रभाव से साधक का अधिकार बल बढ़ जाने पर वह मध्यम भूमि में उपनीत होकर भेदाभेद अवस्था को उपलब्ध करता है। तब समुचित ज्ञान और कर्म का आविर्भाव होता है और आन्तर अद्वैत धाम में क्रमशः बाह्यचक्रादि का लय हो जाता है। इसके बाद जब ज्ञान में कर्म की समाप्ति हो जाती है, तब अभेद या अद्वैत भूमि की स्फूर्ति होती है और परा पूजा का नित्य अधिकार स्वभावतः ही प्राप्त कर लेता है। एक मात्र परम शिव की स्फूर्ति या ब्रह्मज्ञान ही परा पूजा का नामान्तर है। इस ज्ञान अथवा परम तत्व के विकास को लौकिक जगत् में कोई समझ नहीं सकता।

अधोमुख श्वेतवर्ण सहस्रदल कमल का अकूल कमल की अन्तःकलिका में वाग्‌भव नामक एक प्रसिद्ध त्रिकोण है। इस त्रिकोण के परादिक्रम से चार प्रकार के वाक् वा शब्द उत्पन्न होने के कारण इसका नाम वाग्‌भव है। इस त्रिकोण के मध्य में

विश्वगुरु परम शिव की पादुका है। वह प्रकाश, विमर्श तथा इन दोनों के सामरस्य भेद से तीन प्रकार की है। इस पादुका से निरन्तर परमामृत निकलता रहता है। इस स्निग्ध अमृतमय चन्द्र रश्मि द्वारा समस्त विश्व का संजीवन, माधुर्य सम्पादन और तृप्ति होती है। यह पादुका समस्त जीवों का आत्म स्वरूप है। इसके बाद शिवाद्वैत भावना रूप प्रसाद को ग्रहण करने से समस्त तत्वों के विशुद्ध होने पर विमल आनन्द का उदय होता है। तत्व शुद्धि और आनन्द संचार के पश्चात् हृदयाकाश में जिस परम नाद का उदय होता है, उसका चिन्तन करने पर आद्या शक्ति के आनन्दमय रूप की उपलब्धि होती है। साधक के हृदय में इस प्रकार के नाद की अभिव्यक्ति आन्तर जप या मानस जप के नाम से प्रसिद्ध है। चित्त के बाह्य प्रदेश से लौटकर अन्तर्मुख में एकाग्र होने पर इसका अनुभव होता है। इससे अश्रु, पुलक, स्वेद, कम्प, प्रभृति सात्विक विकारों का उन्मेष होता है। इस आन्तर जप या नाद अनुसंधान के समय इन्द्रिय संचार नहीं रहता, इसीलिये इसे बाह्य जप नहीं कहा जा सकता। बाह्य जप विकल्प का ही प्रकार भेद है। परन्तु आन्तर जप में विकल्प का व्यापार शून्य हो जाता है। यही निष्कल चिन्तन अथवा ध्यान का स्वरूप है। वस्तुत: यह चित्त की निरन्तर अन्तर्मुखता के सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार का चिन्तन तब तक उदित नहीं हो सकता, जब तक शुद्ध चैतन्य का संकोच भाव दूर नहीं हो जाता। पर चित्कला महाशक्ति का उल्लास होने पर स्वत: ही इस संकोच का नाश हो जाता है। तब पूर्णहन्ता स्वयमेव विकसित हो जाती है। इन्द्रियों को तृप्त करने वाले शब्द स्पर्श प्रभृति के द्वारा आत्मदेवता की जो पूजा होती है, उसे स्वाभाविक पूजा व सहज उपासना कहकर महायज्ञ रूप से शास्त्र में उसकी प्रशंसा की गयी है। विषयानुभवजन्य आनन्द महानन्द के साथ मिलने पर जिस वैषम्यहीन अवस्था का उदय होता है, वही भगवती की उत्तम उपासना का प्रकृत तत्व है।

द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत—यह त्रिविध उपासनायें शक्ति साधना के अन्तर्गत हैं। अत: समस्त देवताओं की साधना तथा योग एवं कर्म प्रभृति सब इसके अन्तर्गत हैं। काली, तारा प्रभृति भेद से साधना के प्रकार भेद यहाँ आलोचित नहीं हुये। बीज तत्व और मन्त्र विज्ञान, नाद विन्दु कला का स्वरूपा लोचन, मन्त्रोद्धार और मंत्र चैतन्य प्रभृति क्रियायें, दीक्षा और गुरु तत्व, दीक्षा तत्व, ऊर्ध्व शुद्धि, भूत और चित्त की शोधक क्रिया, मातृका और पीठ विचार, न्यास और प्राण प्रतिष्ठा इस प्रकार अनेक विषय शाक्त साधना की विस्तृत आलोचना सूची के अन्तर्गत है। शक्ति उपासना के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन सब प्रासंगिक विषयों का भी ज्ञान होना आवश्यक है।

७

ज्ञानगंज के सिद्ध महायोगी स्वामी विशुद्धानंद 'परमहंस देव'

वाराणसी और कैंट स्टेशन से शहर की ओर चलने पर मलदहिया मुहल्ले में लाजपतनगर से सटा, सड़क की दाहिनी तरफ रामरज मिट्टी से पुता हुआ एक फाटक तथा भवन है। इस पर बाहर लिखा है—'विशुद्धानंद कानन'। भीतर सघन वृक्षों, लताओं तथा पुष्पित पौधों से आच्छादित एक बगीचा है, जिसमें बायीं तरफ एक दुमंजिला भवन है—विज्ञान मंदिर। इसके पहले गोपाल मंदिर, शिव मंदिर आदि हैं। पीछे अंत में साधना-स्थल है—नवमुण्डी सिद्धासन।

विज्ञान मंदिर में नीचे सूर्य विज्ञान के महान् साधक बाबा विशुद्धानंद जी लोगों से मिलते थे और उनकी फरियादें सुनते थे। इस भवन के ऊपरी भाग में बाबा रहते थे और तप करते थे। ऊपर कोई जाता भी नहीं था। इस महान् योगी ने आज से पचास वर्ष पूर्व सूर्य विज्ञान की अद्‌भुत शक्ति का प्रदर्शन करके विश्व को स्तब्ध कर दिया था। विज्ञान मंदिर के नीचे के भाग में एक बड़ा हाल है। यहीं बाबा की भेंट जिज्ञासु ब्रिटिश यात्री पाल ब्रंटन से हुई थी। कोई साठ-बासठ साल पहले ब्रंटन ने भारतीय संन्यासियों की सिद्धि की खोज में पूरे देश का भ्रमण किया था। उसके अंग्रेजी संस्मरण का हिन्दी अनुवाद 'गुप्त भारत की खोज' के नाम से भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है। पूरी पुस्तक में उसने तीन संन्यासियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वे हैं, शृंगेरी के तत्कालीन शंकराचार्य, महर्षि रमण तथा स्वामी विशुद्धानंद।

विशुद्धानंद के चमत्कारों का पाल ब्रंटन ने विस्तार से वर्णन किया है। बाबा ने अपने अद्‌भुत चमत्कारों से पाल ब्रंटन को स्तब्ध कर दिया था। उन्होंने उसके सामने मनपसंद फूल उत्पन्न कर दिया था और फिर उसे दूसरे फूल में बदल दिया था। बाबा ने एक उड़ती चिड़िया को पकड़वा लिया और उसको मृत कर दिया। इसके बाद ही मंत्र पढ़कर उसे पुनः जीवित कर दिया।

जब ब्रंटन ने स्तब्ध भाव से बाबा से इसका रहस्य पूछा, तब बाबा ने उत्तर दिया, ''समस्त संसार और उसके जीवन का रहस्य सूर्य है। हमें सारी शक्तियाँ सूर्य से मिलती हैं। जो कुछ हम देख रहे हैं, वह सूर्य के प्रभाव से एक वस्तु को दूसरी वस्तु में तथा मृत शरीर को जीवित प्राणी में बदला जा सकता है।''

पश्चिम बंगाल में बर्दवान से सोलह मील दूर बण्डूल ग्राम है। वहीं बंग फाल्गुन मास की २९वीं तिथि को विख्यात चट्टोपाध्याय वंश में श्री अखिल चन्द्र की सहधर्मिणी राजराजेश्वरीदेवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। माँ-बाप ने इसका नाम भोलानाथ रखा था। बचपन से ही यह बालक धार्मिक, तेज से सम्पन्न था। इसका शिव से विशेष लगाव था। जब भोलानाथ छः माह का था तो उसके पिता चल बसे। उसके चाचा ने उसका पालन-पोषण किया। आठ वर्ष की उम्र में उसके चाचा का भी साया उस पर से उठ गया।

बालक भोलानाथ बिना पूजा किये जल नहीं पीता था। बण्डूल के उत्तर में भण्डारडिहि श्मशान था। वह एकांत में वहीं एक वटवृक्ष के नीचे बैठा रहता था। एक दिन भोलानाथ बिल्वपत्र से शिवलिंग की पूजा कर रहा था। एक दुष्ट बालक ने पूजा तहस-नहस कर दी। भोलानाथ को क्रोध आ गया। वह बोला, "तूने हमारे शिवजी के साथ झगड़ा किया है, इसलिए शिवजी का साँप तुझे डसेगा।"

वह लड़का हँसी उड़ाता हुआ चला गया, किंतु उसी दिन शाम को साँप ने उसे डस लिया। सबके कहने पर भोलानाथ ने उस मृतप्राय बालक को हाथ से छूकर शिव से प्रार्थना की। वह बालक बच गया।

एक बार भोलानाथ को घर के किसी व्यक्ति ने डाँट दिया। वह कुपित हो गया। वह कृष्ण की मूर्ति हृदय से लगाकर तालाब में कूद पड़ा। लोगों के आश्चर्य का उस समय ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि भोलानाथ जिधर जाता था उधर घुटने से अधिक पानी ही नहीं रहता था।

एक दिन भोलानाथ के चाचा ने उसे एक धोती पहनने के लिए दी। खेल-खेल में उसने धोती फाड़ दी। चाचा बेहद नाराज हुए। बालक भोलानाथ को उन्होंने फटकारा। भोलानाथ ने फटी धोती को मुट्ठी में बाँधकर फेंका। लोगों ने आश्चर्य से देखा कि धोती पहले की तरह सही-सलामत थी।

चाचा ने एक बार पाँच रुपये का कम्पनी शू खरीदकर भतीजे को उपहार में दिया। उस समय पाँच रुपये की बड़ी कीमत थी। पिछड़ी जातियों में तो पाँच रुपये में विवाह हो जाते थे। शशी लोहार का लड़का भोलानाथ का साथी था। गरीबी के कारण उसका बाप उसके लिए जूते न खरीद सका था। भोलानाथ ने अपना कम्पनी शू उस साथी को दे दिया। काका चन्द्रनाथ बहुत कुपित हुए।

भोलानाथ ने अपने घर की नौकरानी से कुछ रुपये उधार माँगा। वह एक नौकर के कंधे पर चढ़कर बर्दवान शहर गया। वहाँ उसने कुनैन की कई शीशियाँ खरीदीं और गाँव में फुटकर बेंच दिया। इससे जो पैसा मिला, उससे न केवल नौकरानी के पैसे ब्याज सहित लौटा दिया अपितु शेष रुपयों से जूते खरीद कर गाँव के बच्चों में बँटवा दिया।

बहुत चेष्टा करने पर भी भोलानाथ अंग्रेजी पढ़ने को राजी न हुआ। संस्कृत से उसे गहरा लगाव था। उसने नवद्वीप के एक विख्यात संस्कृत के विद्वान् से संस्कृत पढ़ी। बालक भोलानाथ को अपनी माँ से बहुत प्रेम था। एक बार माँ को विशूचिका (तीव्र आँव) की बीमारी हो गयी। भोलानाथ को घर में कभी-कभी दुलार से 'पगले चाचा' के नाम से भी संबोधित किया जाता था। हालत गंभीर देखकर चाची ने कहा, ''पगले चाचा, बताओ तो सही हमारी दीदी बचेंगी कि नहीं?''

भोलानाथ ने तुरंत कहा—''हाँ, अच्छी हो जायेंगी।'' उसे रोग की असाध्यता का पता न था। घर के लोगों के चेहरों से बालक को यह समझते देर न लगी कि लोगों ने माँ के जीवन की आशा छोड़ दी है। उसकी आँखों में आँसू भर आए। बालक घर के पीछे गोशाला में, जहाँ कण्डे भरे थे, मचान पर जाकर बैठ गया, वहाँ उसने देवी-देवताओं का ध्यान किया और माँ को नवजीवन दिये जाने की प्रार्थना की।

किसी को भोलानाथ का ध्यान नहीं आया। माँ की हालत में अकस्मात सुधार होने लगा। मच्छरों को भगाने के लिये धुआँ करने के उद्देश्य से घर का नौकर जब मचान पर गया तब उसने भोलानाथ को ध्यान-मग्न देखा। जब नौकर ने बताया कि माँ की हालत अब सुधर रही है, तब भोलानाथ माँ के पास गया। कुछ दिनों बाद माँ स्वस्थ हो गयीं।

जब भोलानाथ चौदह-पन्द्रह वर्ष का था, तब एक दिन सीढ़ी से नीचे उतरते समय उसे एक पागल कुत्ते ने काट लिया। थोड़े समय में पूरे शरीर में जलन और पीड़ा होने लगी। घर वालों ने बहुत इलाज किया, किन्तु कोई लाभ न हुआ। विष पूरे शरीर में फैल गया। बालक दर्द से चीखता था।

एक दिन वह गंगातट पर पहुँच गया। वहाँ उसने देखा कि एक जटा-जूटधारी संन्यासी जल में डुबकी लगाये बैठा है। संन्यासी के चेहरे पर विलक्षण तेज था। जब वह जल के ऊपर आता था, तब पानी उसके साथ ऊपर उठ आता था। भोलानाथ उसे एकटक देखने लगा।

संन्यासी जल से निकलकर भोलानाथ के पास आये और कहा, ''बेटा, घबड़ाओ नहीं।'' उन्होंने उसे एक औषधि खाने को दी और अपनी हथेली भोलानाथ के माथे पर रख दी। भोलानाथ को बर्फ की शीतलता का अनुभव हुआ। उसकी तबीयत ठीक होने लगी।

दूसरे दिन वह फिर गंगातट गया। संन्यासी वहाँ थे, भोलानाथ ने उनसे दीक्षा देने को आग्रह किया। संन्यासी बोले—''तुम्हारे गुरु हम नहीं हैं। तुम्हारे गुरु यहाँ से दूर हैं। जब समय आयेगा तब हम तुम्हें गुरु के पास पहुँचा देंगे।''

भोलानाथ को संन्यासी ने योग का एक आसन सिखाया और बीज मंत्र बताया। इसके बाद वह गंगासागर चले गये। दो वर्ष बीत गये। भोलानाथ मंत्र और आसन की साधना करते रहे। जब भोलानाथ बर्दवान के कांचन नगर मेस में रहता था, तब उसने सुना कि ढाका में ऐसे संन्यासी हैं, जो अधिकतर जल में रहते हैं और जब पानी के बाहर आते हैं तो पानी उनके साथ ऊपर उठ जाता है।

भोलानाथ को कुछ याद आ गया और वह ढाका चला गया। उसके साथ हरिपद नामक किशोर भी ढाका गया। ढाका में रमना नामक स्थान पर उसकी उस संन्यासी से भेंट हो गयी, जिसने उसे जीवनदान दिया था। उस संन्यासी का नाम नीमानंद परमहंस था। भोलानाथ ने कहा—''प्रभु, अब मुझे ग्रहण कीजिए।''

परमहंस जी इनकार न कर सके। उन्होंने दोनों को शिष्य मान लिया। उन्होंने उसी दिन शाम को दोनों की आँखों पर पट्टी बाँधी और अपने साथ लेकर चले। सबेरा होने पर तीनों विन्ध्याचल पहुँचे। यहाँ से परमहंस जी चले गये। ५-६ दिन बाद वे फिर दोनों लड़कों की आँखों पर पट्टी बाँधकर उन्हें हिमालय स्थित दुर्गम योगाश्रम में ले गये, जहाँ श्री परमहंसदेव भृगुराम ने भोलानाथ को बीज मंत्र दिया और योग सिखाया। यहीं परमहंस श्यामानंद ने भोलानाथ को बारह वर्षों तक सूर्य विज्ञान की साधना में लगाये रखा। अब भोलानाथ संन्यासी हो गये। आठ वर्षों तक उन्होंने भारत-भ्रमण किया।

भोलानाथ ने हिमालय के विभिन्न स्थलों का पर्यटन किया तथा अति कठोर जीवन व्यतीत किया। एक बार गिरनार पर्वत पर रहते हुये उन्हें कई दिनों तक भूखा रहना पड़ा था। उन्हें लगा कि इस बार के निराहार से देहपात अवश्यम्भावी है। भोलानाथ इष्ट का ध्यान करते हुये सो गये। जागकर उठे तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उनके सामने विभिन्न पात्रों में स्वादिष्ट भोजन सामग्रियाँ रखी हुयी थीं। यह सब देखकर जगदम्बा की असीम कृपा का स्मरण करते-करते उनकी आँखों से आँसू बरसने लगे। खाद्य वस्तुओं में से अधिकतर बंग देश की सुपरिचित भोज्य चीजें थीं। वे सब इतनी दूर पश्चिम प्रदेश में किसने पहुँचायी? यह तो स्नेहमयी विश्वजननी के स्नेह का ही निदर्शन है। इसका प्रयास अनुभव करके भोलानाथ प्रेम एवं आनन्द से गद्गद हो गये। इस प्रकार की घटनायें उनके जीवन में घटती रहती थीं।

जो विराट शक्ति जगत् के आन्तर में रहकर अनन्य भाव से समग्र जगत् का संचालन करती हैं, जिसके नियंत्रण से चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, वायु, वरुण, प्रभृति यावतीय पदार्थ अपने-अपने निर्दिष्ट कर्म यथा नियम करते रहते हैं और तिल

13927

मात्र भी कर्तव्यच्युत नहीं हो सकते, जिनके मंगलमय विधान से सन्तान प्रसव के पूर्व ही उसके आहार के लिये माता के स्तनों में अमृतधारा की व्यवस्था हो जाती है उसी विश्वजननी आनन्दमयी महाशक्ति पर यदि निर्भर रह सके तो फिर जीव को चिंता ही किस बात की। जिस समय दुःख-सुख में, उत्थान-पतन में, बाहर-भीतर, सोते-जागते सभी अवस्थाओं में एक मात्र उनकी ही मंगलमय सत्ता का साक्षात्कार होने लगता है उस समय क्षुद्र अहंकार न जाने कहाँ विलीन हो जाती है। सूर्योदय होने पर जिस प्रकार नक्षत्र पंक्ति अदृश्य हो जाती है, उसी प्रकार फिर अहंकार का पता ही नहीं रह जाता। जो साधक निर्भरशील हो जाता है उसका योगक्षेम भगवान् स्वयं वहन करते हैं।

गुरुश्री परमहंसदेव भृगुराम से दीक्षा लेने के बाद उनका नाम स्वामी विशुद्धानंद हो गया था। उन्होंने अपने गुरु से 'नाभि धौति' क्रिया सीखी । 'किरात धौति' तथा 'किरात कुंभव' की सिद्धि भी प्राप्त कर ली। इन सिद्धियों से योगी अपने शरीर को शून्य बना लेता है।

स्वामी विशुद्धानंद के देह में कोई तीन-चार सौ स्फटिक गोलक (क्रिस्टल बॉल्स) छिपे रहते थे। वह इन्हें अपने रोमछिद्रों से बाहर निकाल लेते थे और फिर भीतर कर लेते थे। शरीर से बाहर आये स्फटिक गोलकों से कमलगंध निकलती रहती थी। यही नहीं, मस्तक से शिवलिंग, माला, शालिग्राम आदि बाहर रखते थे, फिर भीतर कर लेते थे।

उनके बड़े भाई भूतनाथ चट्टोपाध्याय चिकित्सा के धंधे में थे। एक दिन उन्होंने स्वामी विशुद्धानंद से कहा, "क्या आप योग-बल से स्वर्गीय पिताजी का दर्शन मुझे करा सकते हैं?"

भूतनाथ जी न माने। अन्त में उनके हठ के सामने उन्हें झुकना पड़ा। उन्होंने एक स्वच्छ कमरे में एक शय्या बिछायी। उन्होंने योग--बल से पिताजी की मूर्ति को शय्या पर बुला लिया। मूर्ति पन्द्रह मिनट तक रही। भूतनाथ ने अनेक प्रश्न किए। मूर्ति ने सारे प्रश्नों का उत्तर दिया।

ऐसा ही चमत्कार स्वामी जी ने उस समय दिखाया जबकि उनके भाई भूतनाथ गंभीर रूप से बीमार पड़े। स्वामी जी ने अपने तपोबल से उन्हें रोग-मुक्त कर दिया और कहा, "दादा यदि आप अब जीवन चाहते हैं तो प्याज-अण्डा न खाइयेगा।" भूतनाथ ने उस समय तो स्वामी जी की बात मान ली और अण्डा-प्याज खाना छोड़ दिया, किन्तु कुछ दिनों बाद फिर खाने लगे। वह पुनः गम्भीर रूप से बीमार पड़ गये।

उनकी बीमारी से स्वामी जी की माँ व्याकुल हो गयीं। पता नहीं कैसे स्वामी जी को माँ की व्यथा ज्ञात हो गयी। वह तुरंत बण्डूल पहुँच गये। भाई

को देखते ही उन्होंने माँ से स्पष्ट कर दिया, "अब दादा नहीं बचेंगे माँ," यही नहीं, उन्होंने मृत्यु का दिन, समय और तारीख भी बता दिया। इसके बाद वह चले गये। उनकी भविष्यवाणी सच निकली। पुत्रशोक से विह्वल माँ को उन्होंने दिव्य दर्शन कराये और उनके मन को शांत किया।

गुरु की आज्ञा से उन्होंने चिकित्सा शास्त्र का गहन अध्ययन किया। इसके बाद वह बर्दवान जिले के मुस्करा गाँव में रोगियों की चिकित्सा करने लगे। जिन रोगियों की वह चिकित्सा करते थे वे अच्छे हो जाते थे। उनके पास जाने वाला कोई रोगी मरता नहीं था। असाधारण चिकित्सक के रूप में वह चारों ओर विख्यात हो गये।

जब माँ ने वंशरक्षा के लिए विवाह का आग्रह किया, तब वह आदेश के लिए गुरु के पास गये। गुरु ने उनकी बात सुनने के बाद कहा कि तुम विवाह कर लो इससे तुम्हारी तपस्या पर कोई आँच नहीं आयेगी।

स्वामी जी ने विवाह कर लिया। उनके दो पुत्र भी हुये। बच्चों से बाबा को सहज लगाव था। वह बच्चों से घुलमिल कर बातें करते थे। और उन्हें फल और मिठाइयाँ देते थे। वह दिन तथा रात में पाँच-छः बार नहाते थे। भीषण सर्दी में भी आधी रात के बाद जल में आधा घंटे तक डुबकी लगाये रहते थे। वह स्तोत्र पाठ करते थे। पानी से निकलकर साधना-गृह में घुस जाते थे। सबेरा होने पर जब वह निकलते थे तब उनके मुख मण्डल पर दिव्य शान्ति विराजती थी। उनके साधना-गृह में एक विषधर सर्प रहता था। जब तप क्रियाओं से उनका शरीर उत्तप्त हो जाता था तब वह उस सर्प को शरीर के चारों तरफ लपेटकर शान्ति का अनुभव करते थे। इस साँप को वह शिवदास के नाम से पुकारते थे। किसी नये व्यक्ति को देखकर साँप इतने भयंकर ढंग से फुफकारता था कि वह व्यक्ति भय से बेहोश हो जाता था।

एक दिन बाबा अपने शिष्य उपेन्द्र से बोले, "उपेन्द्र वास्तव में सब कुछ हम जो देख पाते हैं वह ईश्वर ही है। तुम कहोगे कि हम लोग जो देखते हैं, क्या उसका कोई अस्तित्व है? हमें भ्रमवश असत्य सत्य प्रतीत होता है। तुम जो जवा फूल देख रहे हो, क्या वास्तव में वह जवा है?"

"स्वामी जी यह जवा फूल ही तो है। मैं तोड़ कर आपको दिखाता हूँ।" इतना कहकर उपेन्द्र बाबू जवा फूल के पास पहुँचे, किन्तु यह क्या? ज्यों ही उन्होंने फूल तोड़ा, त्यों ही वह गुलाब बन गया। उनका आश्चर्य उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया, जबकि उन्होंने देखा कि जवा का पौधा गुलाब का पौधा बन गया है।

बाबा ने मुस्कराकर कहा—"जो तुम देख रहे हो वह गुण वैषम्य का फल

है। सूक्ष्म परमाणुओं और गुणों के सम्मिश्रण से जगत् की रचना हुई है।"

उपेन्द्र बाबू ने पूछा, "आप हमारे सामने बैठे हैं, क्या यह भी मिथ्या है?"

यह सुनकर बाबा पहले हँसे और फिर कहा, "उपेन्द्र, हमारा अस्तित्व कहाँ है?" अपने इन शब्दों के साथ वह अदृश्य हो गये। उपेन्द्र बाबू देखते रह गये। कुछ क्षणों के बाद बाबा पुनः प्रमुख द्वार से भीतर आते हुए दिखाई दिए। वह आसन पर बैठ गये और बोले, "बेटा, केवल ब्रह्म ही सत्य है। अपना कर्तव्य ठीक-ठीक करते चलो। धीरे-धीरे जगत् को जान जाओगे।"

बर्दवान में बाबा उपेन्द्र बाबू के घर में रहते थे। श्री उपेन्द्रनाथ चौधरी उस समय पुलिस सब-इन्सपेक्टर थे। उनके अफसर श्री आर०एफ० गाइज का व्यवहार उनके प्रति बड़ा कठोर रहता था। इससे उपेन्द्र बाबू चिंतित रहते थे।

एक दिन उपेन्द्र बाबू बाबा के रात्रि-पूजा के निमित्त नैवेद्य आदि तो पूजा-गृह में रख आये। किन्तु सबेरे का लाया हुआ फूल रखना भूल गये। रात में उन्हें अपनी भूल याद आयी। सबेरा होने पर सहमे हुए जब वह पूजा-गृह में पहुँचे, तो देखा कि पूरे कमरे में कमल के फूल बिखरे पड़े हैं।

बाबा ने हँसते हुए कहा, "जो फूल तुम लाये थे उनसे आज पूजा नहीं होनी थी, वर्ना तुमसे मैं खुद माँग लेता। पूजा करते समय मुझे एक पुष्करिणी में बड़े सुन्दर कमल के फूल दिखाई दिए। मैंने आज उन्हीं से पूजा की है।"

कुछ सोचकर बाबा ने कहा, "उपेन्द्र, मुझे मालूम हुआ है कि तुम्हारे साहब तुम पर बहुत ही नाराज हैं। यदि ऐसा है, तो तुम आज अपने प्रमोशन की अर्जी लेकर जाओ।"

बाबा की आज्ञा मानकर उपेन्द्र बाबू अर्जी लेकर साहब के कमरे में गये और बाबा का स्मरण करके उनके सामने अर्जी रख दी। साहब ने पहले स्नेह-भरी दृष्टि से उपेन्द्र बाबू को देखा फिर प्रार्थना-पत्र पर एक पेज की संस्तुति डबल प्रमोशन के लिए लिख दिया, उपेन्द्र बाबू इस चमत्कार से हर्ष-विभोर हो गये।

गुरु परमहंसदेव श्री भृगुराम स्वामी द्वारा दिये गये सतत स्वतः प्रकाशित 'हरिहर' नामक लिंग बाबा ने अपने मस्तक में स्थापित कर लिया। बाद में अपने जन्म गाँव में 'बाण्डलेश्वर' महादेव के नाम से मंदिर का निर्माण करवाया और यहीं इस शिवलिंग की प्रतिष्ठा कर दी। महाशिवरात्रि पर आज भी यहाँ महोत्सव मनाया जाता है।

बर्दवान के श्री क्षेत्रगोपाल बन्द्योपाध्याय को अपने फलित ज्योतिष के ज्ञान पर बड़ा गर्व था। एक दिन वह बाबा के पास गये। वह बाबा के आसन पर बैठ गये। बाबा ने उस दिन तो कुछ नहीं कहा, किन्तु जब वह दूसरे दिन भी

आकर उनके आसन पर बैठ गये, तब बाबा ने उन्हें भविष्य में फिर कभी अपने आसन पर न बैठने की चेतावनी दे दी। क्षेत्र बाबू इस पर नाराज हो गये। उन्होंने कहा, "मैं भी ब्राह्मण हूँ। आप भी ब्राह्मण हैं। ज्ञान, प्रतिष्ठा और उम्र में मैं आप से घटकर नहीं हूँ। आप मेरा अपमान क्यों करते हैं?"

बाबा ने हँसकर उत्तर दिया, "बनर्जी महाशय, आप ब्राह्मण के मद में भूले हैं। यदि आप सचमुच ब्राह्मण होते, तो सम्मान पाने के लिए इस तरह लालायित न होते। ब्राह्मण तो इन्द्र के पद को भी तिनके के समान मानता है।"

क्षेत्र बाबू ने कहा, "अब कहाँ वैसे ब्राह्मण हैं? वह जमाना लद गया, जब ब्राह्मण के नेत्र से अग्नि प्रज्वलित हो जाती थी।"

यह सुनकर बाबा ने क्षेत्र बाबू की चादर की ओर देखा। उनके देखते ही चादर में आग लग गयी। क्षेत्र बाबू ने चादर फेंक दी। वह जल गयी। इस कांड ने सबको चमत्कृत कर दिया।

बाबा निर्भरावस्था के लिये बल देते थे। एक बार उन्होंने कहा था कि नारायण के राज्य में अविचार नहीं है। वे जो कुछ भी करेंगे सब मंगल के लिये करेंगे। जीव उनकी महिमा क्या जाने। जीव अपनी ओर से जो-जो मनमाना चाहता रहता है, यदि वह सभी उसे दे दिया जाय तो क्या उसकी कभी रक्षा हो सकती? नारायण न दे तो पाने का कोई उपाय नहीं। वे जो सब समय सब कुछ नहीं देते। यह उनका मंगल विधान ही है। अन्ध जीव तमोगुण के द्वारा स्वयं कर्त्ता बन करके विश्वपति के कार्य-कौशल को भूल जाता है। अहंकार के आवेश में उसकी बुद्धि कलुषित हो जाती है। प्रज्ञा का लोप हो जाता है और नश्वर विषय सुख के आस्वादनों को करते-कराते वह कुपथगामी बन जाता है। सत्य का समादर सदा सर्वकाल रहता है किन्तु मिथ्या का प्राधान्य कुछ समय के लिये होने पर भी वह स्थायी नहीं टिकता।

कालान्तर में बाबा ने बर्दवान, कलकत्ता, बण्डूल, जगन्नाथपुरी, झालदा और वाराणसी में योग-साधना हेतु आश्रम स्थापित किया। काशी में साधना हेतु शिक्षा मंदिर तथा विज्ञान मंदिर का निर्माण किया।

बाबा के आसन पर गुलाब के एक फूल को लेकर एक दिन सायंकाल श्री गोपीनाथ कविराज ने पूछा—"बाबा, यह गुलाब पुष्प नारी है या पुरुष?"

बाबा ने फूल देखकर कहा, "यह स्त्री-पुरुष है। अच्छा ढूँढ़कर गुलाब का नर-पुष्प ले आओ।" वहाँ दूसरा गुलाब न था। जब कविराज जी बाहर से गुलाब का नर पुष्प लाने के लिए तैयार हुए तब बाबा बोले, "रहने दो। तुम इस पुष्प की पंखुड़ियाँ एक-एक कर खोल डालो।" "इसे अपनी मुट्ठी में कुछ मिनट तक बन्द रखो, जिससे इसमें बाहर की ठंडी हवा न लगे।"

कविराज ने वैसा ही किया और जब मुट्ठी खोली तो देखा कि सचमुच गुलाब का एक नया सुगंधित नर पुष्प तैयार हो गया था।

बाबा ने उस गुलाब को जवाकुसुम में परिवर्तित कर दिया।

एक बार जगन्नाथपुरी में बाबा से श्री गोपीनाथ कविराज ने पूछा—"बाबा, चैतन्य चरितामृत, गोविन्द लीलामृत आदि ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के जिस प्रकार के शरीर-गंध का विवरण है, वह कैसा था?"

कविराज ने गोविन्द लीलामृत के आधार पर उन सारे द्रव्यों के नाम गिनाये जिनके सम्मिश्रण से श्रीकृष्ण के शरीर-गंध का आभास मिलता है। बाबा एक-एक द्रव्य का नाम सुनाते जाते थे और हस्तसंचालन करते जाते थे। बाद में कविराज जी के समीप मुट्ठी लाकर कहा—"लो श्रीकृष्ण के शरीर-गंध को सूँघों।"

सचमुच वह अपूर्व गंध थी। दूसरे दिन बाबा ने एक शीशी में सूर्य-रश्मि के द्वारा उन्हीं वस्तुओं के आधार पर वैसा ही सुगन्धित द्रव तैयार कर दिया। बाबा से इसका रहस्य पूछा गया, पर उन्होंने कहा, "यदि अपने में आकर्षण की क्षमता रहे और उपादान का ज्ञान हो, तो कोई कठिनाई नहीं है। जहाँ तक सूर्य-रश्मियाँ पहुँच सकती हैं, वहाँ तक हर वस्तु को खींचा जा सकता है।"

बाबा ने हीरे सहित बहुमूल्य पत्थर, रसगुल्ला, कुनैन, तेल, केमिकल, अंगूर आदि फल, मधु, दवायें प्रत्यक्ष बनाकर दिखा दिया। रूई के फूल या पत्तों को पत्थर में बदल दिया। यही नहीं सूर्य-रश्मि से मक्खी, चमगादड़ आदि पैदा करते दिखा जो तुरन्त उड़ने लगे। बाबा का कथन था कि किसी वस्तु का विनाश नहीं होता है।

एक बार जगन्नाथपुरी में बाबा अपने क्रियागृह में जयदेव रचित पर दो उज्ज्वल चरणों की रेखायें अंकित हो गयीं। पेंसिल द्वारा इन्हें रेखांकित कर लिया गया। पहले यह कलकत्ते में रखे गये फिर काशी आश्रम के गोपाल मंदिर में स्थापित किये गये।

मेरी जानकारी के अनुसार सन् १९३७ के अंत में भवानीपुर कलकत्ता के विशुद्धानंद आश्रम में बाबा ने अपनी इहलीला समाप्त की। यहाँ प्रस्थान के पूर्व बाबा कुछ दिन अस्वस्थ रहे थे। जब डॉक्टर उन्हें देखने आये तब वह चादर ओढ़े लेटे थे। डॉक्टर चादर में हाथ डालकर बाबा का हाथ खोलने लगे, मगर उन्हें हाथ न मिला। जब डॉक्टर ने निराश होकर अपना हाथ खींच लिया तो बाबा ने कहा, "डॉक्टर साहब आप चादर हटा दीजिए और नाड़ी देख लीजिए।"

डॉक्टर ने चादर उठायी तो देखा कि चादर के साथ ही हाथ की चमड़ी और मांसपेशियाँ भी उठ गयी थीं। सामने लाल-लाल नाड़ी की नस फैली थी, जो चल रही थी। डॉक्टर स्तब्ध रह गये। उन्होंने बाबा के पैर पकड़े और कहा,

"क्षमा कीजिए बाबा, मैं आपका इलाज नहीं कर सकता।"

सूर्य विज्ञान जगत् के सब विज्ञानों का शिरोमणि है। इस सूर्य विज्ञान को जान लेने से जीवों के सभी अभाव दूर किये जा सकते हैं। इसके द्वारा जीव अपने जन्मकालीन उपादान अर्थात् व्यक्तिगत प्रकृति का आमूल परिवर्तन करके विशुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। विशेषकर भारतवर्ष का यह निजस्व है। किन्तु अपने ही देश से इस विज्ञान का लोप हो चुका है। कल्पनातीत क्लेश सहन करके दुर्गम पर्वत प्रदेश से इसे पुनः प्राप्त करके सुदीर्घकालीन साधना द्वारा पूज्यपाद बाबा ने इसे सिद्ध किया है। अतः ऐसी दुर्लभ विद्या उन्हीं के साथ पूर्ववत् पुनः विलुप्त हो जाय ऐसा वे कदापि नहीं होने देना चाहते। बाबा का कहना है कि योगशास्त्र में ऐसे किसी भी अलौकिक सिद्धि का वर्णन नहीं है जो अपेक्षाकृत सुगम उपाय द्वारा सूर्य विज्ञान से उपलब्ध न की जा सके। पातंजल योग दर्शन का विभूति पाद शिव पुराणादि का अन्य प्राचीन ग्रन्थ, तन्त्र शास्त्र, बौद्ध तथा जैन शास्त्रों के योग सम्बन्धी ग्रन्थ, सूफी और ईसाई योगीगणों की ग्रन्थ माला आदि में वर्णित प्रत्येक व्यापार इस सूर्य विज्ञान द्वारा सहज साध्य है?

सूर्य विज्ञान की ओर इंगित करते हुए बाबा ने कहा था कि वत्स, सभी कुछ उन्हीं की इच्छा। उन इच्छामयी के प्रति विशेष लक्ष्य रखने से ही सभी विषय भली-भाँति जाने जा सकते हैं। उक्त इच्छामयी की कृपा के बिना कोई भी विषय जानने की किसी में भी शक्ति नहीं हो सकती। जिसके द्वारा सृष्टि और लय होते हैं वे कौन हैं, वे क्यों इस प्रकार करते हैं, इत्यादि जानने का नाम है 'ज्ञान'। इसकी परावस्था, सृष्टि और लय करने वालों को भी जिन्होंने रचा है, उस घोर रूपिणी महाशक्ति लोकातीत के विषय में जानने का नाम है 'विज्ञान'। जगत् मिथ्या, एक वे ही सत्य है।

बाबा ने कहा कि "वत्स, जो कुछ तुम देखते हो वह सब महाशक्ति का व्यापार है। महामाया कृपा शक्ति विज्ञान बल से महाशक्ति का महातत्व स्थूल जगत् में उतार ला सकती है। असीम महाशक्ति के महाविज्ञान के आलोक द्वारा प्राण में जो कुछ होता है, वह जिसे हुआ होगा वही जान सकता है। भाषा होती तो लिखा जाता। यह भली प्रकार जाना गया है कि योग और विज्ञान के बिना इस विषय में कुछ भी समझ पाना सम्भव नहीं है।"

शिशु जब अपनी माँ का हाथ पकड़ कर अपनी चाल से अपने बल पर चलने की चेष्टा करता है तब उसके गिर पड़ने की सम्भावना होती है, क्योंकि दुर्बल शिशु की थकी हुयी मुट्ठी की पकड़ ढीली होकर हाथ छूटकर उसके गिर पड़ने में देरी नहीं लगती है।

किन्तु माता जब शिशु को स्वयं अपने हाथ का सहारा देती है और शिशु

को अपने मजबूत हाथ से पकड़े हुये ले चलती है, उस समय कोई भय का कोई कारण नहीं रह जाता। ज्ञान और विज्ञान का परस्पर सम्बन्ध कुछ इसी प्रकार समझना चाहिये। विज्ञान के उज्ज्वल आलोक के भीतर ज्ञान और अज्ञान दोनों ही सम सूत्र होकर निष्प्रभता को प्राप्त होते हैं, हो जाते हैं। द्वैत तथा अद्वैत नित्य एवं अनित्य, गति और स्थिति इस सबको यथार्थ समभाव से देखना हो तो एक-मात्र विज्ञान का आश्रय लेना ही होगा।

बाबा ने कहा है कि "वत्स, सकल शक्तियों की जो मूल शक्ति है, एक-मात्र वही सबके आदि अन्त में रहती है। समस्त विषयों में उनके प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। एक मात्र पूर्ण परमानन्दमयी ब्रह्ममयी द्वैतद्वित नित्य और अनित्य लीला के अन्दर सुख-दु:ख, हाय-हताशा, पिता-पुत्र, सेव्य-सेवक इत्यादि सबको लेकर मजे का खेल खेलती है। प्रयोजन, अप्रयोजन स्वयं जानती हैं। जीवात्मा, स्वरूपात्मा, परमात्मा, स्थूल आत्मा, सब उन महाशक्ति माँ के ही भाव हैं। असार युक्ति तर्क द्वारा तो कुछ मिलता नहीं। प्रत्यक्ष वस्तु के लिये और युक्ति तर्क क्या? जगत् प्रसविनी प्रत्यक्ष माँ योग में ब्रह्मातीत माँ, महाभाव तत्व का सार मर्म क्रिया के द्वारा हृदय में सर्वदा ही ग्रहण करो। बाह्य भाव के भीतर झुक न पड़ते हुये सर्वदा ही माँ को स्पर्श करने में सक्षम होओ, तभी सब कुछ सम्भव होगा।"

सूर्य को आश्रय करके ही ज्ञान तथा विज्ञान दोनों का विकास होता है। सूर्य के आलोक में देह मध्यस्थ इड़ा मार्ग संचारी चन्द्र प्रकाशित होकर स्निग्ध अमृत धारा से समस्त देह को आप्यायित कर देता है। पिंगलावर्ती सूर्य क्रिया कौशल से जिस समय प्रबल तेजोमय रूप धारण करता है, तब उसी के संस्पर्श से मध्य शक्ति कुछ परिमाण में उत्तेजित होकर वाम पार्श्वस्थ इड़ा मार्ग से संचरणशील चन्द्रमा को उग्र भाव में परिणत कर देती है। क्रमश: दक्षिण शक्ति, मध्य शक्ति और वाम शक्ति तीनों ही शक्तियाँ समान रूप से उत्तेजित होकर विक्षोभ को प्राप्त होते हैं। तब ये तीनों शक्तियाँ समष्टिभूत होती हुयीं मध्यस्थ ब्रह्म बिन्दु को धक्का देकर जगा देती हैं, यह है कुण्डलिनी का जागरण अथवा मंत्र चैतन्य सम्पादन। जब ये तीनों पृथक् स्रोत एक समकेन्द्र की गहराई में पतित हो सम्मिलित सामंजस्य को प्राप्त हो जाते हैं तब स्वभावत: ही अद्वैत मार्ग उन्मुक्त हो जाता है। और उस मुक्त आलोक के अन्दर तत्व वस्तु का दर्शन होता है। जब तक एकाग्र भूमि के अवसान में निरोध आयत्त नहीं, औचित्य वृत्ति की ऐकान्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक स्वयं प्रकाश विज्ञान तत्व का स्फुरण होना सम्भव नहीं होता। यदि महाशक्ति के राज्य में प्रवेश करना हो तो एकाग्र भूमि के ज्ञान को निरुद्ध करके परिपूर्ण विज्ञान शक्ति का आश्रय ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है।

बाबा ने विश्वास दिलाया सूर्य रश्मियों द्वारा मनुष्य का सृजन करना सम्भव हो सकेगा। बाबा का कहना था कि किसी भी वस्तु का विनाश नहीं होता, इसीलिये कोई जीव चाहे लोक लोकान्तर में चला जाय या यहाँ तक कि चाहे ब्रह्मलोक में चला जाय, क्षमताशाली विज्ञान पुनः आकर्षण करके ले आ सकता है। चित्त की भिन्न वृत्तियाँ, काम आदि रिपु, ज्वर आदि ग्रीष्म आदि ऋतु, प्रेम, भक्ति, प्रभृति भाव विज्ञान के आलोक में सभी स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

पूज्य बाबा का जीवन अति विचित्र, निर्मल, कठोर, संयम वाला, असाधारण करुणा वाला था। वे कहा करते थे कि "सहसा किसी में भी विश्वास नहीं करना। विश्वास करोगे तो ठग जाना होगा। इस जगत् का प्रत्येक परमाणु तुम्हारे प्रतिकूल है। तुम्हारे मित्र एक मात्र तुम्हीं हो। तुम स्वयं अपने आपको भूलकर बाहरी मित्रों की ओर आकर्षित न होना। तुमने स्वयं अपने को जगत् के भीतर जकड़ कर रखा है। अब जगत् में अपने बिखरे हुये उपादान को समेट लो। बस समेटते मात्र ही एक स्थान में तुम्हें अपना पूर्ण आदर्श घनीभूत रूप में दिखायी देगा। वही है तुम्हारी सबसे अधिक प्रियतम वस्तु। जिस प्रियतम की खोज में तुमको इतने जन्मों तक भटकना पड़ा है इस बार उसे पाकर शान्ति लाभ करो। सचमुच विश्वास बहुत दुर्लभ चीज है। जहाँ-तहाँ विश्वास न कर बैठो। तुम्हें प्रत्येक पग पर सत्य और असत्य की परख करते चलना होगा तभी विश्वास स्थिर होगा। कुपात्र में विश्वास करके धोखा खा जाने की अपेक्षा प्रथम सन्देह करके बाद में अटल विश्वास में स्थिति लाभ करना श्रेष्ठ है।"

पुनः बाबा बोले, "तीव्र पुरुषकार द्वारा प्राक्तन कर्म खंडन किया जा सकता है। पुरुषकार का महत्व असीम है। योगाभ्यास ही है मुख्य पुरुषकार। सद्गुरु के बताये हुये पथ पर चलते हुये उनकी दी हुयी शक्ति से सम्पन्न बन करके निरन्तर श्रद्धा और संयम समवेत योग कर्म का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्धि होती है और ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान के दृढ़ होने पर शुद्ध भक्ति का संचार होता है। प्रेम की इस अवस्था में हृदय पिघल जाता है। जगदम्बा को पाने के लिये यह प्रेम ही एक मात्र साधन है।"

बाबा कहते थे कि योग अत्यन्त गूढ़ व्यापार है। साधारणतः लोग, जिसका अनुष्ठान किया करते हैं, वह वस्तुतः योग नहीं है। बाबा का कहना था कि कर्म किये बिना खाली ग्रन्थों के अध्ययन मात्र से करोड़ों जन्मों में भी ज्ञान का उदय होना सम्भव नहीं। शास्त्र तो केवल पथ दिखा देता है किन्तु पथ पर अग्रसर होना होता है यथार्थ कर्म द्वारा।

बाबा का स्वभाव अभिमान रहित, सरल और बालकवत् था। इतना ज्ञान ऐश्वर्य और साधन सम्पत्ति सब कुछ होते हुये भी उनमें कभी क्षण मात्र के लिये

भी अविनय देखने में नहीं आया। तीव्र साधना के फलस्वरूप उनका शरीर परिवर्तित हो चुका था। श्वास-प्रश्वास के लिये उन्हें बाहरी वायु के साथ सम्बन्ध रखना नहीं पड़ता था। सूक्ष्म और विशुद्ध भीतरी वायु द्वारा ही उनके श्वास-प्रश्वास का निर्वाह अन्दर ही अन्दर होता है।

तीव्र क्रिया के समय सारा घर पद्म गंध से भर जाता है। सुषुम्ना के भीतर वायु को चला सकने से क्रमशः देह, वायु और चित्त विशुद्ध होकर पद्म गंध का शरीर में विकास हो जाता है। कहा जाता है कि बुद्धदेव और चैतन्य महाप्रभु के शरीर से भी पद्म गंध निकलती थी। बाह्य वायु के साथ यह गंध सुगंधों में परिणत हो जाती है। बाबा के देह में स्वभावतः ही अर्थात् बिना स्फुरण के ही इतनी अधिक तड़ित शक्ति क्रिया तत्पर रहती थी कि बर्रे, भ्रमर, मच्छर आदि जीव बाबा के शरीर में काटते तो तत्क्षण जल कर मर जाते। उनकी आँखों में इतना तेज था कि वह कहा नहीं जा सकता। एक बार एक साधु उनकी परीक्षा करने के उद्देश्य से एक ज्योतिर्मय कठोर शिवलिंग लेकर उनके पास आया था। उन्होंने उस शिवलिंग को ताक कर मात्र देखा कि तत्काल वह चूर्ण-विचूर्ण हो गया था और एक दिन एक व्यक्ति का तीव्र रोग आकर्षण करके एक वाणलिंग के भीतर भरते ही तुरन्त वाणलिंग फट गया था।

बाबा में अनगिनत सिद्धियाँ थीं। एक दिन वे महिमा सिद्धि की एक प्रणाली समझा रहे थे। उस समय उन्होंने तर्जनी अँगुली को इतनी बड़ी और प्रसारित बना दिया था कि उसे देखकर पहचानना कठिन था। उनमें अणिमादि सिद्धियाँ प्रत्यक्ष देखी गयी थीं। किन्तु ये सब सिद्धियाँ उनके लिये एकबारगी तुच्छ और नगण्य। जिस महाधन से धनी होकर उन्होंने अतुल योगेश्वर्य की भी तृणवत् उपेक्षा की वहीं भगवत प्रेम रूपी अमूल्य चिन्तामणि हम सब लोग उनके पास से प्राप्त कर लेने में कदापि न चूकें। उनके आशीर्वाद से और उनके संचारित बल से बलवान होकर हम लोग उनके पीछे-पीछे अनुगमन करने में समर्थ हों। वे हमको असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञानालोक की ओर, मृत्यु राज्य से अमर धाम की ओर ले चलें, यही उनके श्रीचरणों में हम सबकी विनीत भक्तिपूर्ण प्रार्थना है।

यद्यपि बाबा के आदेशानुसार उनके द्वारा स्थापित नवमुण्डी आसन का रहस्य सर्वसाधारण के लिये गुप्त है; किन्तु उनके परम शिष्य विश्व विश्रुत मनीषी महातन्त्रयोगी गोपीनाथ कविराज ने बाबा के कार्यों का तथा उनकी ज्ञानगंज धारा की आत्म-क्रिया योग की साधना को अपने साधनापरक ग्रन्थों में जनहित के लिये पूर्णरूपेण अभिव्यक्त कर दिया है। इस धरा-धाम पर इस सरल-सहज धारा का अवतरण हो चुका है, दिन पर दिन आधार पाकर जिज्ञासु भी लाभान्वित

हैं। बाबा के जन्म-स्थान बण्डूल ग्राम में स्थापित वाणलिंग की स्थापना का भी विचित्र रहस्य है। ज्ञानगंज के साधकों का आग्रह था कि 'वाणलिंग' जिसका श्याम वर्ण तथा लाल रंग प्रतिक्षण बदलता रहता है, इसको धरती पर न स्थापित किया जाय, तब बाबा ने कहा कि तुम लोगों के लिये तो दूरी महत्व नहीं रखती, जब इच्छा हुयी दर्शन करने आ सकते हो फिर लौट सकते हो, किन्तु इन लोगों के लिये यह दर्शन असम्भव होंगे। आज भी रात्रि में ऊर्ध्वजगत् के इन महात्माओं का आना तथा घण्टा ध्वनि करना, सुना जाता है।

❀

८

अखण्ड महायोग और ज्ञानगंज धारा

भारतीय साधना धारा में गुरु तत्व का प्रमुख स्थान माना गया है। भले ही गुरु के स्वरूप में विभिन्न आध्यात्मिक चिन्तकों में एकमत न हो, फिर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी ने इसके महत्व को स्वीकार किया है। जहाँ शरीरी गुरु की मान्यता नहीं है, अशरीरी सत्ता अथवा प्रातिभ ज्ञान ही गुरु तत्व का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। कहीं-कहीं आत्मा अथवा चैतन्य ही गुरु तत्व माना गया है। उसी गुरु तत्व के आश्रय से साधक की अग्रगति होती है। योगी एवं सिद्ध गुरुओं में तो भोग और मुक्ति दोनों के ही प्रदान करने की क्षमता होती है। इस शताब्दी के ज्ञानगंज धारा के **प्रवर्तक** परमहंस श्री विशुद्धानंद जी इस कोटि के शक्ति सम्पन्न महायोगी हैं, जिनका अवतरण ही सूक्ष्म जगत् के सिद्ध महात्माओं ने सर्वमुक्ति के उद्देश्य से इस पृथ्वी तल पर कराया था। १४ वर्ष की आयु में ही इनकी जन्मभूमि बर्दवान जिले के बण्डूल ग्राम से श्री नीमानंद परमहंस देव जी आकाश मार्ग से इन्हें ज्ञानगंज ले गये थे। वहाँ २० वर्ष तक रहकर उन्होंने सूर्य विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान आदि अनेक प्राचीन विधाओं की उपलब्धि कर पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न होकर लोकालय में समष्टि मुक्ति के लिये गुरु द्वारा भेजे गये। वाराणसी में उन्होंने नवमुण्डी महाआसन की स्थापना की, जो विश्व के रूपान्तरण की ही प्रक्रिया का प्रारूप है और इस काल जगत् के परे है।

सन् १९१८ में महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज जी को बाबा ने दीक्षा दिया। कविराज स्वयं ऊर्ध्वजगत् से अवतरित विश्व विश्रुत मनीषी थे। दोनों ही गुरु-शिष्य इसी महान् कार्य के लिये भारत में अवतरित हुये। यद्यपि कविराज जी दीक्षादान नहीं करते थे, फिर भी उन्होंने अपने सम्पूर्ण साहित्य में विशेषकर तांत्रिक वाङ्मय में 'शाक्त दृष्टि' में विशद् चर्चा की है, जिसमें पूरी प्रक्रिया और उनके अनुभवों का उल्लेख है। पूज्य चरण कविराज जी ने अखण्ड महायोग की स्थापना की, जो जीवात्मा के उद्धार के लिये तथा समष्टि मुक्ति की दिशा में एक महान् कार्य है जिसका प्रारम्भ महात्मा बुद्ध ने किया था, बाद में प्रभुपाद जगद्बन्धु, वामाक्षेपा, मेहरे बाबा अरविन्द आदि ने गति दी। सर्व मुक्ति की दिशा में अरविन्द के योग में कविराज जी ने कुमारी सेवा तथा तीन विशिष्ट साधनायें एक स्त्री मूर्ति के साथ ज्ञानगंज से युक्त रहकर किया। अब मात्र माँ को शिशु

भावापन्न अवस्था में पुकारना शेष रह गया है। बाबा के जीवन काल में माँ की आर्त पुकार में भक्तों/शिष्यों से पर्याप्त सहयोग नहीं मिला। इसके अभाव में बाबा को १९३७ में ज्ञानगंज की ऊर्ध्व शक्तियों के आदेश से शरीर संकोच करना पड़ा। युग सन्धि के इस संक्रमण काल में अधिकांश महात्मा सूक्ष्म शरीर से सर्व मुक्ति का आधार तैयार कर रहे हैं। अखण्ड महायोग कृपा का मार्ग है, जो आद्या माँ (महाशक्ति) की शिशु भावापन्न होकर पुकार पर निर्भर है। यह अवरोहण मार्ग सहज, सरल और निरपेक्ष है।

साधना भी एक प्रकार की गतिशीलता है। निम्न आयाम से ऊर्ध्व आयाम की ओर की गतिशीलता ही साधना है। मध्याकर्षण से त्राण दिलाकर ऊर्ध्वाकर्षण की धारा में गतिशील हो जाने पर प्राप्तव्य की प्राप्ति सम्भव हो जाती है। मोक्ष की भी गति ही है जिसे देवयान गति कहते हैं। ब्रह्मभाव, परमात्मभाव तथा भगवद्‌भाव में स्थिति प्राप्त करने के लिये भी जीवत्वावरण का गतिमान होकर भेदन करना होना है। उसी के पश्चात् ऊर्ध्व से ऊर्ध्व गति धारा में साधक निरन्तर उपलब्धियाँ प्राप्त करता रहता है। भगवद्‌भाव की प्राप्ति के बाद भी गतिशीलता समाप्त नहीं होती। "हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।" गति के साथ ही लक्ष्य भी ऊँचा हो जाता है। लक्ष्य में स्थित होने की यात्रा बाह्य यात्रा ही कही जायगी। इस स्थिति में योगी जन अपने लक्ष्य का अवलोकन करता है तो उसे आभास होता है कि लक्ष्य के आभ्यन्तर में प्रवेश करना होगा और वह व्याकुल होकर अनन्त की साधना के एक मात्र उद्देश्य से निरन्तर गतिशील बने रहने का प्रयत्न करता है। महायोगी की ही यह साधना यथार्थ भक्त की साधना है। जीव भाव से ब्रह्म भाव की ओर गति होती है, ज्ञान मार्ग के अनुशीलन से, ब्रह्म भाव की उपलब्धि से परमात्म भाव की गतिमयता का माध्यम योग और परमात्म भाव से भगवद् भाव की ओर गतिमान अवस्था ही भक्ति है। इसके अनन्तर भगवत भाव के अनन्त क्षेत्र में जिस अन्तगति का उन्मेष होता है, भगवान् के अन्दर जो संचरण होता है, वही अखण्ड महायोग है। यह भक्ति की चरम परिणति है जिसे प्रेम कहते हैं। "योगः कर्मसु कौशलम्" के ही आधार पर प्रेम की नींव स्थापित है। "बिना प्रेम ना रीझैं नन्द लाला।"

आभ्यन्तर रूप में गुरुत्व के समाविष्ट हो जाने पर अखण्ड महायोग में गुरु ही गति है और वही गति प्रदाता है। वही जीव के जड़त्व को समाप्त करता है। जीव अपने प्रयत्न से उसे नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्रों में इसे दीक्षा, शक्ति संचार आदि संज्ञा प्रदान की गयी है। इस गुरुत्व के अन्तरावलोकन करने पर प्रतीत होता है कि यह नित्यगुरुरूप परमेश्वर का ही सम्यक् ध्यान है। प्रारम्भ में नित्य गुरु की धारणा सम्भव नहीं है। अतः साधक शरीरधारी महापुरुष को

गुरुरूप में वरण करते हैं किन्तु अखण्ड महायोग में चरणों का ही ध्यान महत्वपूर्ण है। मानस में तुलसीदास जी ने भी गुरु के चरणों का महत्व दिया है। यह धारणा श्वास के साथ संयुक्त होकर की जाती है। इस जड़ देह में श्वास क्रिया ही चेतना का प्रमाण है। बालक जन्म लेते ही भूमिष्ठ होते ही प्रथम बार निःश्वास छोड़ता है और वहीं से श्वास-निःश्वास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और इस क्रिया के समाप्त होने तक का काल ही जीवन है। इसी श्वास-प्रश्वास क्रिया के माध्यम से ही योग मार्ग से जीव आत्म-साक्षात्कार भी करता है। इसी धारणा में सर्वप्रथम सुषुम्ना का संधान करना आवश्यक है। सुषुम्ना ऊर्ध्वगामी प्रवाह होने पर भी ऊर्ध्व से अधः तक व्याप्त है। दो बिन्दुओं के मध्य का अवकाश स्थल ही सुषुम्ना है तथा 'श्री गुरु चरण' से ध्यान प्रारम्भ करने की पृष्ठभूमि है। यह ध्यान शिखा तक व्याप्त हो जाता है। अतः प्रथम बिन्दु है चरण, द्वितीय बिन्दु है शिखा। इन दोनों बिन्दुओं के मध्य सीधी रेखा ही सुषुम्ना है। आशय यह हुआ कि चरण बिन्दु से ध्यान प्रारम्भ करके ऊपर की ओर लक्ष्य ले जाते समय शिखा बिन्दु तथा चरण बिन्दु के मध्य जो अवकाश स्थान है इसी शून्य का नाम सुषुम्ना है। यह ध्यान की अनुलोम अवस्था है। इस अनुलोम ध्यान में गुरु चिन्तन के माध्यम से अपनी चेतना को ब्रह्मरन्ध्र तक ऊर्ध्वगति की उपलब्धि कर लेता है। इसे पूरक स्थिति में करने से यह श्वास की सूक्ष्म गति या प्राण भी ब्रह्मरन्ध्र का संस्पर्श प्राप्त करती है। परिणाम स्वरूप ब्रह्मरन्ध्र में एक स्पन्दन का अनुभव होता है। यह स्पन्दन ही अद्वैत बोध का प्रारम्भिक रूप है। क्रमशः अभ्यास करने और दृढ़ता के साथ इस स्पन्दन में स्थित होने पर बाह्य सत्ता या देहाबोध लुप्त हो जाता है और अद्वैतावस्था विकसित होने लगती है। ब्रह्मरन्ध्र स्थित बिन्दु में समाहित होना ही अद्वैतबोध का यथार्थ रूप है। सुषुम्ना में अर्थात् गुरु प्रदत्त नासिकाग्र भाग में प्रवेश ही माँ की गोद में बैठना है और यहीं से साधक अथवा योगी की आध्यात्मिक गतिशीलता प्रवाहमान होने लगती है।

इसके अनन्तर कुम्भक दशा में गुरु के सर्वांग अथवा शिखा एवं चरण बिन्दुओं के मध्य के अन्तराल का एक साथ चिन्तन स्थिरावस्था है। इसे साम्यावस्था भी कहते हैं। इसमें श्वास का आवागमन नहीं है अर्थात् प्राण की बाह्य गति निरुद्ध है तथापि अन्तरगति भी नहीं है। दोनों गति प्रत्यक्षतः नहीं है। फिर भी वहाँ प्राण की अपने आप में स्पन्दनात्मिका का चलन रूप है। साम्य मय इस कुम्भक ध्यानावस्था में शिखा बिन्दु रूप ऊर्ध्व बिन्दु तथा चरण रूप अधः बिन्दु के मध्य का अवकाश विलीन होने लगता है तथा दोनों बिन्दु अपनी पूर्ण समग्रता के साथ एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं। इस विलीनता में गुरु तत्व एवं गुरु शक्ति का सम्मिश्रण हो जाता है। इस प्रकार प्रथम स्थिति है

अद्वैतावस्था और द्वितीय स्थिति अथवा कुम्भक स्थिति है स्वरूपानुसंधान। स्वरूप का अनुसंधान युगपत रूप से होता है। जैसे कुम्भक ध्यान में ऊर्ध्व एवं अधः बिन्दु के सम्मिलन से गुरुत्व का चिन्तन एक साथ होता है। यह भी उसी प्रकार की अवस्था है। पहले अद्वैत, फिर उसी अद्वैत में स्वरूप का अनुसंधान इसके बाद तृतीय ध्यान की स्थिति के उदय होने का अनुभव प्रतीत होने लगता है।

इसके पश्चात् का ध्यान विलोम ध्यान की श्रेणी में आता है। मात्र अद्वैत का आस्वादन तथा स्वरूप के अनुसंधान की अभीप्सा उचित नहीं। आवश्यकता है इन दोनों का प्रवाह समग्र साधक सत्ता में होना। अन्यथा साधक के कण-कण को उसके चैतन्य एक अणु को इस अनुभव का रसास्वादन नहीं होगा। इसीलिये विलोम क्रम से गुरुत्व में अवरोह करना आवश्यक है। इसकी पूर्ति होती है रेचक स्थिति में। रेचक स्थिति में भीतर की प्राणवायु बाह्य जगत् में विकीरित होती है। इस ध्यान द्वारा ऊर्ध्वस्थ शिखा में स्थित बिन्दु का अवरोह निम्न बिन्दु अथवा चरण बिन्दु तक किया जाता है। गुरुत्व के ऊर्ध्व प्रदेश में क्रमशः उतरते चरण बिन्दु तक विलोम ध्यान किया जाता है। यही पूर्वानुभूत अभेदावस्था में एक अद्भुत द्वैतमय सत्ता प्रकट होती है। जैसे अगाध अनन्त महासागर में एक छोटे से हिमखण्ड की सत्ता होती है। महासागर भी जल है, हिमखण्ड भी जल ही है तथा जल होने पर भी जल से पृथक् अथच जल ही है। गुरु सत्ता रूपी अगाध विस्तार में साधक ही हिम खण्डवत् अणु रूप में अपनी उपलब्धि करता है। तदनन्तर अणु रूप साधक गुरु की महत सत्ता के सम्मुख प्रणत् होता है। यह प्रणति गुरु का उत्कर्ष अथवा शिष्य का अपकर्ष नहीं है, प्रत्युत् यह है समावेश। स्वरूप समाविष्ट स्थिति यही है गुरु दर्शन की यथार्थ परिणति।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुर्साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

गुरु दर्शन के उपरान्त इष्टमूर्ति के आविर्भाव की साधना प्रारम्भ होती है। गुरु दर्शन की प्रक्रिया ज्ञान है। गुरु दर्शन ही ब्रह्मदर्शन है। परन्तु यह परमात्म दर्शन नहीं है। इष्टमूर्ति का दर्शन ही परमात्म दर्शन है। यद्यपि गुरु, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् में पार्थक्य नहीं है, परन्तु अनुभूति एवं रसास्वादन की दृष्टि से सभी एक ही महासत्ता के ही विभिन्न स्तर हैं। गुरु दर्शन के फलस्वरूप स्थूल देहबोध अथवा पाँच भौतिक शरीर से छुटकारा मिलता है। वास्तव में यथार्थ साधना इस प्राकृत देह में नहीं हो सकती क्योंकि यह मायिक देह है। गुरु दर्शन की प्रज्वलित भावना में तपकर मायिक देह शुद्ध होता है। जब अणु रूप शिष्य सत्ता महत् रूप गुरु तत्व के सम्मुख प्रणत होती है तो समावेश के द्वारा उसमें जो स्पन्दन होता है, उससे उसका षडध्व शुद्ध हो जाता है। अब उसकी सत्ता में चैतन्य का प्रवाह होने लगता है—

कालाग्निकोटिरुचिमम्ब षडध्वशुद्धौ ।
माप्लावनेति भवती ममृतौघ व्रष्टिम ॥

इष्ट दर्शन वास्तव में अप्राकृत रूप है। अतः अप्राकृत होकर ही इसकी उपासना की जा सकती है, जो देह कुण्डलिनी के गर्भ से उत्पन्न होता है, वही वास्तव में अप्राकृत देह है। साधक की देह कुण्डलिनी से प्रसवित नहीं है, अतः उसे अप्राकृत नहीं कहा जा सकता। वह मातृ गर्भ से उत्पन्न देह को लेकर इष्ट की उपासना नहीं कर सकता है। इसके लिये उसे पुनः कुण्डलिनी गर्भ में शरण लेकर प्रसवित होना होगा तभी उसे अप्राकृत देह प्राप्त होगी और तभी उसे इष्टोपासना का अधिकार प्राप्त होगा।

कुण्डलिनी शक्ति है। मातृ गर्भ में जन्म लेने पर जन्म-मरण का चक्र निरन्तर चलता रहता है, परन्तु जब परमेश्वर की कृपा से कुण्डलिनी गर्भ में प्रवेश होकर जन्म होता है तब जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। मातृ गर्भ से भी प्रसव होता है और कुण्डलिनी गर्भ से भी। परन्तु कुण्डलिनी गर्भ से प्रसव होने पर विश्व व्यापार समाप्त हो जाता है। अभी हम मायिक राज्य में विचरण कर रहे हैं। कुण्डलिनी राज्य में प्रवेश करने के लिये शक्ति राज्य में प्रवेश करना पड़ता है। प्रथम स्तर में ही इस शक्ति राज्य का संधान प्राप्त करना आवश्यक है। योगी-गण कहते हैं कि प्राण का बाह्य केन्द्र उपलब्ध करने पर शक्ति राज्य में प्रवेश का अधिकार मिल जाता है और साधक के लिये शक्ति राज्य के कपाट खुल जाते हैं। तंत्र शास्त्र में इस बाह्य केन्द्र को द्वादशान्त कहते हैं।

यह स्तरों के अनुसार अनेक है। सबसे सरल रूप से नासाग्र द्वादशान्त का संधान प्राप्त हो सकता है। अनुसंधान से विदित होता है कि श्वास नासिका से प्रवेश करने के कुछ क्षणों के बाद पुनः बहिर्गत हो जाती है। बाहर जाने पर नासिका से १२ अंगुल तक इसकी गति होती है। पुनः उसी बिन्दु से चलकर प्राण वायु नासिका में प्रवेश करती है। यही नासाग्र द्वादशान्त है। इस द्वादशान्त पर प्राण वायु के उत्थान का अनुभव करने से क्रमशः बाह्य अनुभूति लुप्त होने लगती है और शक्ति के अन्तःक्षेत्र में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। इस बिन्दु का आश्रय लेने के उपरान्त फिर अन्य किसी प्रकार से अथवा हठयोग आदि की अनेक कष्ट एवं श्रम साध्य विधियों व प्रक्रियाओं से षट्चक्रभेदन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। यह शक्ति राज्य में प्रवेश का प्रथम स्तर है।

इस प्रथम स्तर में प्रवेश के पूर्व की स्थिति भी समझ लेना आवश्यक है। मायिक जगत् के आविर्भाव के मूल में आवरण और विक्षेप नामक अज्ञान की दो शक्तियों की क्रिया को स्वीकार किया जाता है। आवरण शक्ति की क्रिया से आत्मा का स्वरूप ढक जाता है। आत्मा का स्वरूप है चिदानन्दमय। इस अभिन्न

शक्ति का भी चित् शक्ति और आनन्द शक्ति नाम से वर्णन किया जाता है। आवरण शक्ति के कारण आत्म स्वरूप का भान नहीं होता। यह ज्ञात नहीं होता कि एक ही आत्मा विद्यमान है और प्रकाशित हो रही है, अपितु नानात्व का भान होता है। इसी कारण इस सृष्टि को अज्ञान मूलक सृष्टि कहते हैं। जब ज्ञान शक्ति का उदय होता है, तब उसके प्रभाव से यह आवरण कट जाता है। ज्ञान शक्ति चित् शक्ति की ही एक अवस्था है। हममें क्रिया शक्ति अवश्य होती है, परन्तु ज्ञान में अन्तर्निहित रहती है। अतः ज्ञान शक्ति वस्तुतः चैतन्य शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ गुरु शक्ति कार्य करती है और साधक चेष्टा अथवा साधना द्वारा देह और मन को शुद्ध करके गुरु दत्त ज्ञान का सन्धान पा सकता है—

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया
तद्पदं दर्शितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।

जो अज्ञान तिमिर के प्रभाव से जड़ित शिष्य के नेत्रों को ज्ञानरूपी अंजन शलाका के द्वारा उन्मीलित कर देते हैं, वे ही गुरु हैं। अज्ञानावस्था में इन्हीं चक्षुओं की क्रिया चलती रहती है। ज्ञान चक्षु खुल जाने पर वे खुल जाते हैं और वे सक्रिय हो जाते हैं और अज्ञान चक्षु बन्द हो जाते हैं। जब साधक ज्ञान तथा अज्ञान से अतीत हो जाता है, तब वह त्रिनेत्र पद पर अभिषिक्त हो जाता है। अब मनुष्य इच्छा और प्रयोजन के अनुसार दोनों शक्तियों का व्यवहार कर सकता है, क्योंकि उसने गुरु कृपा से ज्ञान और अज्ञान दोनों शक्तियों को आयत्त कर पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लिया है। मनुष्य के दोनों नेत्र वास्तव में दो विरोधी शक्तियों के प्रतीक हैं। मनुष्य देह के प्राणमय एवं मनोमय कोष में समस्त भुवनों में यहाँ तक कि अणु-परमाणु में भी इन्हीं दो विरुद्ध शक्तियों का ही काम दिखाई पड़ता है। जब क्रिया कौशल द्वारा इस संघर्ष का समन्वय हो जाता है तो इस विरुद्ध शक्तिद्वय के मध्यबिन्दु में साम्यावस्था का उदय होता है। यह मध्यबिन्दु अव्यक्त बिन्दु है, तथापि अव्यक्त होने पर भी यही मध्यमार्ग का मूलाधार है। मध्यभूमि की इसी साम्यावस्था में योगीगण स्वयं में एक अचिन्त्य तेज का उद्दीपन देखते हैं। कुण्डलिनी जागरण इस उद्दीपन का पारिभाषिक नामान्तरण है। इसे मध्य शक्ति का विकास कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। आत्मा अविद्या संस्कार से मुक्त होकर शुद्ध विद्या प्राप्ति का अधिकारी है। यही शुद्ध विद्या चैतन्य शक्ति का उन्मेष है जिसका अनुभव गुरु कृपा से होता है। उपर्युक्त गुरु प्रणाम स्तोत्र में जिसे चक्षु का उन्मीलन कहा गया है, वह सम्यक् ज्ञान रूपी चक्षु का खुलना है। जो इन दिव्यज्ञान नेत्रों को खोलते हैं वही प्रकृत सत्गुरु हैं। विशुद्ध आत्मज्ञान ही ज्ञानांजन शलाका है। अज्ञान है स्वात्मा से जगत् को भिन्न समझना। वास्तव में आत्मा का तिरोहित प्रकाश ही जगत् है। सद्गुरु की कृपा से समग्र विश्व शिव

रूपी आत्मा की शक्ति के रूप में प्रकाशित होने लगता है, यही है दिव्य चक्षु का उन्मीलन अथवा गुरु कृपा से प्राप्त अभेद दृष्टि का उन्मेष। प्रज्ञा रूपी इस चक्षु के खुल जाने पर महाज्ञान का उदय होता है और जीवन्मुक्ति स्वत: प्राप्त हो जाती है। यही जीवन की चरम सफलता है। इस उपलब्धि का मूल कारण है गुरुकृपा। इसी से सद्गुरु का महत्व मान्य है।

यहाँ यह शंका उठती है कि क्या सद्गुरू के बिना कोई आत्म चैतन्य को इस अखण्ड प्रकाश रूप स्थिति तक पहुँचा सकता है? इसका एक मात्र उत्तर है कि जब तक ज्ञान एवं क्रिया शक्ति पूर्णत: आयत्त नहीं हो जाती तब तक यह सम्भव नहीं। सद्गुरु दीक्षा द्वारा भगवान् के अनुग्रह प्राप्त जीवन का उद्धार तो कर देते हैं, किन्तु जीवन्मुक्ति के लिये जीव का भी कुछ कर्त्तव्य शेष रह जाता है, जिसके अभाव में उसे जीवन्मुक्ति साक्षात्कार रूप आनन्द की सम्यक् उपलब्धि नहीं होती, यद्यपि यह निश्चित है कि कर्म भोग का अन्त हो जाने पर देह पात होते ही उसे शिवत्व में प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। विशुद्ध ज्ञान नेत्रों का उन्मीलन हो जाने पर मायातीत विशुद्ध ज्योतिर्मय अखण्ड सत्ता द्रष्टा के साथ अभिन्न तथा प्रतिष्ठापित हो जाती है। यद्यपि उच्च अधिकारी के लिये बाह्य गुरु की कोई आवश्यकता नहीं होती, तथापि सामान्यत: यही नियम है। गुरु जो शक्ति प्रदर्शन करता है, वही शक्ति दर्शन भी करता रहता है। अद्वैत भूमि में दोनों एक हैं। यह अभिन्न तथा अभिव्यक्त क्रिया है। साधक आत्मा की इस अभेदावस्था में ही अग्रसरित हो अधिकार के साथ कह उठता है—

स्थावरं जगँ व्याप्त यद् किञ्चित सचराचरम्
तत्पदं दर्शनं येन तस्मै श्री गुरुवे नम:।

मातृगर्भ से प्रसव होने पर जन्म-मरण चक्र चला करता है, यही परमेश्वर की कृपा से कुण्डलिनी गर्भ से जन्म लेने पर जन्म-मरण समाप्त हो जाता है फिर सम्पूर्ण विश्व-व्यापार समाप्त हो जाता है। फिर मायिक राज्य में विचरण के बाद कुण्डलिनी राज्य में प्रवेश करने के लिये शक्ति राज्य में पग संचार आवश्यक है। प्राण का बाह्य केन्द्र उपलब्ध कर लेने पर शक्ति राज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त हो जाता है। शक्ति राज्य के कपाट साधक के लिये खुल जाते हैं। तन्त्र शास्त्र में इस बाह्य केन्द्र को द्वादशान्त कहा है। स्तरानुरूप यह अनेक हैं, किन्तु नासाग्र द्वादशान्त का अनुसंधान सरलता से प्राप्त हो जाता है। श्वास नासिका के अन्दर प्रवेश करने के कुछ क्षणों बाद ही पुन: बहिर्गमन करती है और इसकी गति नासिका से १२ अंगुल पर्यन्त होती है पुन: उसी बिन्दु से चलकर प्राणवायु नासिका में प्रवेश करती है। यही है नासाग्र द्वादशान्त। इसी पर प्राणोत्थान अनुभव करने पर बाह्यता लुप्त हो जाती है और शक्ति क्षेत्र में प्रवेशाधिकार प्राप्त हो जाता है।

द्वितीय स्तर में यह द्वादशान्त जो बाह्य शून्य में स्थित है, शक्ति जागरण के साथ ही द्विदल से मूर्धा पर्यन्त स्थिति का साक्षात्कार कराता है। इस स्थिति में बाह्य प्राण व श्वास-प्रश्वास पर दृष्टि नहीं रहती। उसकी गति भी अनन्त सूक्ष्म हो जाती है। जब साधक का बोध भ्रूमध्य में निबद्ध हो जाता है। भ्रूमध्य में इस प्राण की गति का अनुभव होता है, इस प्राण की गति बाह्य नहीं होती अपितु शरीर के अन्दर ही ऊर्ध्व की ओर संचरित होती है। यह क्षेत्र है भ्रूमध्य (आज्ञा चक्र) से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त। जैसे स्थूल प्राण नासिका से निकलकर बाह्य आकाश में विचरण करता है, वैसे ही भ्रूमध्य में अनुभूत हो रहा प्राणों का स्पन्दन ब्रह्मरन्ध्र तक एक सीधी सरल रेखा में ऊर्ध्व गति की ओर बढ़ने लगता है किन्तु वहाँ से बाहर निकलने का मार्ग न पाने से भ्रूमध्य बिन्दु में लौट आता है। भ्रूमध्य बिन्दु से निम्न गति न पाने से यह स्पन्दन पुनः ब्रह्मरन्ध्र तक होने लगता है। यह प्रक्रिया भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र तक साधक को पूर्ण रूप से स्पन्दित करने का अनुभव करा देती है।

इसके अनन्तर तृतीय स्तर का कृपा सापेक्ष उन्मेष होता है। अब प्राण गति का स्पन्द ब्रह्मरन्ध्र में ही आबद्ध होने लगता है, वापस भ्रूमध्य की ओर नहीं लौटता और ब्रह्मरन्ध्र केन्द्र में ही घूर्णित होने लगता है। यह बद्धस्व पर उन्मुक्तस्व की कृपा है। इसी दशम् द्वार पर उच्चकोटि के साधकों को सद्गुरु का स्पर्श मध्याकर्षण से मुक्त कर देता है। इसी स्थल पर घूर्णन से ब्रह्मरन्ध्र का अत्यन्त सूक्ष्म केशाग्र से भी सूक्ष्म पथ खुलने लगता है। इस घूर्णन का अत्यन्त मादक एवम् आनन्दप्रद अनुभव भाग्यवान् साधक ही कर पाते हैं। यही चित्त की एकाग्रता की अवस्था है और अलग से चित्त वृत्ति के निरोध के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता। यह समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व) भेदन की अवस्था है। अब देहबोध की परिणति ब्रह्मबोध रूप में होने लगती है। यही है ब्रह्माण्ड भेद। इस भेदन से माया राज्य के मध्याकर्षण का अतिक्रमण हो जाता है।

प्राण या तैजस् की गति ऊर्ध्व है, किन्तु यह अधोगतिशील होता है माया अथवा देहात्मबोध के मध्याकर्षण के कारण। ब्रह्मरन्ध्र भेद के उपरान्त मध्याकर्षण प्रभावहीन होने से प्राण स्पन्दन में कोई विघ्न नहीं पड़ता और वह स्वभाव की धारा में ब्रह्मरन्ध्र से ऊर्ध्व प्रदेश की ओर गतिशील हो जाता है तथा इस ब्रह्मरन्ध्र भेदन के उपरान्त जिस आकाश रूपी विस्तार का साक्षात्कार करता है वह है चिदाकाश। चिदाकाश में प्रकृत सहस्रदल विद्यमान हैं। ब्रह्मरन्ध्र के द्वादश अंगुल ऊपर के बिन्दु में दूसरी सत्ता है। यही सहस्रदल अखण्ड महायोगोक्त सहस्रदल है। योग शास्त्र में वर्णित सहस्रदल की चर्चा इससे भिन्न है। ब्रह्मरन्ध्र से लेकर सहस्रदल की यात्रा या मार्ग में ही साधक का स्वभाव अथवा स्वरूप है। उसके

साक्षात्कार से गुरु सत्ता की पुष्टि हो जाती है और चिदाकाश में इष्ट साक्षात्कार के उपरान्त गुरुकृपा की पूर्ण वर्षा साधक पर होने लगती है। यहीं से गुरु सत्ता का कार्य समाप्त हो जाता है और यह गुरु सत्ता साधक में ही समाहित होने लगती है और यहीं गुरु और शिष्य एक हो जाते हैं। इस बिन्दु पर इष्ट दर्शन के उपरान्त साधक गुरु सत्ता के सम्मुख कृतज्ञता ज्ञापन करते हुये आत्मविभोरावस्था में विनयावनत प्रणाम करता है।

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।

यही प्रणत होते ही शिष्य साधक का तेज केन्द्रित होकर उसके मस्तक की ओर उसे ऊर्ध्व स्थिति की ओर ले जाने के लिये अग्रसर होता है। यहीं गुरु का स्वतेज उनके ब्रह्मरन्ध्र से उतरता हुआ उनके चरणाग्र बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है। अब प्रणत शिष्य के मस्तक के तेज तथा गुरु के चरणाग्र बिन्दु पर केन्द्रित गुरुतेज का एकीकरण हो जाने से गुरु और शिष्य सत्ताओं का एकीकरण हो जाता है। अखण्ड महायोग में इसे पूर्णाभिषेक कहते हैं।

वास्तव में चिदाकाश योगी का चरम लक्ष्य नहीं है यद्यपि योगी यहाँ तक पहुँचने में योगियों की नौ योगभूमियों अथवा चिन्मय अनुभूतियों में प्रथम भूमि बिन्दु, द्वितीय भूमि अर्द्धचन्द्र, तृतीय भूमि निरोधिका (रोधिनी) तथा नाद और नादान्त के बाद छठी भूमि शक्ति में प्रवेश पाता है। पिछली भूमियों की चर्चा साधनाक्रम के सन्दर्भ में की जा चुकी है। शक्ति राज्य में प्रवेश ही षष्ठ चिद्भूमि है, यह स्थान ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर है और ऊर्ध्व कुण्डलिनी इसी का नामान्तर है। यहीं आनन्दमय स्पर्श या घूर्णि का अनुभव होता है जो मध्याकर्षण से ऊर्ध्व की अवस्था का द्योतक है काल और अन्तराल से परे। स्थूल वर्ण के उच्चारण-काल को माया कहते हैं। योगियों की नौ योगभूमियों में प्रथम बिन्दु है। यह नौ भूमियाँ नववाद के नाम से प्रसिद्ध है। स्थूल में जैसे नाद के नौ विभाग कल्पित हैं उसी प्रकार सूक्ष्म में भी। बिन्दु का उच्चारण काल अर्द्ध मात्रा है। अर्द्ध मात्रा में प्रवेश न पाने तक यह सब योग विभूतियाँ प्राप्त नहीं होतीं। एकाग्रता और निरोध के सन्धि स्थल में अर्द्ध मात्रा स्थित है। निरोधिका के बाद नाद और नादान्त क्रमशः दो भूमियाँ हैं। नाद की मात्रा १/१६ है और नादान्त की १/३२। नाद का स्थान ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर है, यहीं से विशुद्ध चित् की धारा प्रारम्भ होती है जो शक्ति स्थान की ओर ले जाती है। यह भी चार कलाओं से वेष्टित है। इसके केन्द्र की कला का नाम है व्यापिनी। शक्ति की मात्रा १/६४ है, यहीं ब्रह्म की सगुण शक्ति के आनन्द का आभास होता है। व्यापिनी में ही शक्ति तत्त्व के साथ ही शिव तत्त्व भी अन्तर्निहित रहता है। व्यापिनी के अनन्तर समना का स्थान है यही

पराशक्ति है। इसी शक्ति पर आरूढ़ होकर शिव समग्र विश्व के स्रष्टा होकर विश्व के सृष्टि, रक्षा, संहार, निग्रह और अनुग्रह रूप पाँच कार्य करते हैं। व्यापिनी की मात्रा १/१२८ और समना की मात्रा १/२५६ है। इसके अनन्तर उन्मना है जिसकी मात्रा १/५१२ मान्य है, किन्तु कुछ मतों में इसका उच्चारण काल नहीं मानते क्योंकि यह मन के अतीत है। इसी स्थान पर नाद-ब्रह्म की समाप्ति हो जाती है। यही नौ भावों में नवम् भूमि है।

ब्रह्मरन्ध्र के भेदन के बाद अब महायोगी की स्थिति शक्ति राज्य में हो जाती है। ब्रह्मरन्ध्र से सहस्रदल पर्यन्त इस अनन्त आकाश में शक्ति के विभिन्न स्तर हैं। यहाँ प्राण की गति विलीन हो जाती है और इस स्पन्द को हम अहं स्पन्द या अहं विमर्श कहते हैं। यह स्वयं अपनी ही गति से गतिमान है और विमर्श भी प्राण के ही समान ऊर्ध्व एवं अधःगतिशील है अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के केन्द्र बिन्दु से लेकर सहस्रदल की कर्णिका तक गतिशील रहता है। सहस्रदल की कर्णिका में प्रवेशाधिकार न होने के कारण यह विमर्श अथवा स्पन्द पुनः ब्रह्मरन्ध्र केन्द्र में लौट जाता है।

ब्रह्मरन्ध्र से नीचे न जाने के कारण फिर ऊपर उठता है। सहस्रदल कर्णिका ही नित्य गुरु का धाम है। गुरुतत्त्व से एकीकरण हो जाने के बाद इस स्थल पर हमें हृदय और चिदाकाश के सम्बन्ध में जानकारी आवश्यक है। साधारणतः जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के साथ-साथ हृदय सम्बद्ध है। हृदय से ही नाड़ीजाल प्रसृत होकर सम्पूर्ण शरीर तक व्याप्त है। जाग्रत अवस्था में अनेकानेक नाड़ी हृदय से निकलकर अन्नमय कोष द्वारा इन्द्रिय द्वार तक संचालित होती रहती है तथा बाह्य जगत् के विषयों को ग्रहण करती है। इस प्रकार अन्नमय कोष हृदय के साथ संश्लिष्ट है। प्राणमय कोष की भी यही स्थिति है। मनोमय कोष स्वप्नदर्शन से संयुक्त है। इस अवस्था में हृदय अज्ञान से आच्छन्न होने पर भी मनोवाहा नाड़ी द्वारा अधिगत रहता है।

सुषुप्ति काल में इन नाड़ियों की क्रियाशीलता नहीं रहती, मन हृदय निमज्जित रहता है और हृदय अज्ञान से आच्छन्न रहता है। इसके पश्चात् ज्ञानोदय होते ही ऊर्ध्व योग से सम्बन्धित हो जाता है और हृदय से सञ्चालित ऊर्ध्व नाड़ी द्वारा चालित हो जाते हैं। देहात्मबोध अस्तमित हो जाता है तथा सुषुम्ना-क्रिया की स्पष्ट अनुभूति होने लगती है। वे इस स्थिति में मूलाकाश और चिदाकाश से उत्तीर्ण होते हैं। चिदाकाश चिदालोक से ही आलोकित है। चिदाकाश में अखण्ड सत्ता अनन्त रूप से भासित होती है और देशकाल की सीमा से परे साधक स्वयं को अनुभव करता है।

चिन्मयं व्याप्त येन यत्किञ्चित सचराचरम्
तत्पदं दर्शनं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।

गुरु ही प्राप्तव्य है जिनकी महाकृपा से ही सहस्त्रदल की कर्णिका में प्रवेश मिल सकता है। एक मात्र इस पर उनका ही अधिकार है। शक्ति राज्य के अतिक्रमण के बाद स्वभाव राज्य में प्रवेश किये बिना नित्यगुरु की महाकृपा का अनुभव नहीं होता। इसके प्रवेश का काल निर्धारित नहीं है। किसी क्षण में ही नित्य गुरु के स्वातन्त्र्य के कारण योगी इसका अनुभव कर सकते हैं और कर्णिका का पथ उन्मुक्त हो जाता है।

कर्णिका के मध्य में अनन्त विस्तीर्ण महापथ में चिदाकाश की कोई भी सत्ता नहीं है। यह चिदाकाश से अतीत अवस्था है। उपनिषदों में इसे दहराकाश कहा गया है। यह नित्य गुरु का स्वधाम है। इस स्वधाम में एक अत्यन्त रहस्यमय क्षेत्र की स्थिति है। इसे 'अष्टदल' कहते हैं। इसी अष्टदल के मध्य में अनन्त ज्योति से उद्भाषित नित्य गुरु का सन्धान मिल जाता है। यहाँ साधना की कोई स्थिति नहीं है। यह है प्रेमराज्य। ज्ञान, भक्ति, कर्म सबसे परे रसमयी सत्ता से यह क्षेत्र सराबोर है जो भाषा द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। महायोगी इसी राज्य में प्रवेश प्राप्त करते हैं। इसी राज्य की अवतारणा हेतु इस विश्व ब्रह्माण्ड में इसी प्रेमराज्य का आविर्भाव कराने के लिये अखण्ड महायोग के पथिक सतत् प्रार्थना-रत हैं।

योग शास्त्रोक्त भुजंगाकार कुण्डलिनी में साधना द्वारा प्रवेश मिलता है जो क्रमशः षट्चक्रों को भेदन करती हुयी स्वपथ पर अग्रसर होती है। अखण्ड महायोग की कुण्डलिनी का साक्षात्कार साधना द्वारा प्रबुद्ध नहीं होता। यह कृपा द्वारा उद्बुद्ध होकर साधक को गतिशील बनाती है। इसके प्रभाव से गतिशील साधक कुण्डलिनी में प्रवेश करते ही नीचे की वस्तु (तल) का सारतत्त्व लेकर ऊर्ध्वगति की ओर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है और यहीं दिव्य प्राण की प्राप्ति के पश्चात् आनन्द का सार प्राप्त करता है। यहीं से अनन्त का राज्य भी प्रारम्भ होता है। अनन्त में प्रकाश के प्रक्षेपण करने पर वह चक्राकार होने लगता है, यही है रासलीला। यहाँ अनन्त रस विद्यमान रहते हैं। इसका उत्स है सहस्त्रदल। यह अनन्तात्मक है अतः रासलीला (चक्राकार) रूप में गतिशील रहता है। सहस्त्रदल की कर्णिका में भी दिव्य प्राण के प्रक्षेपण से यह प्राण चक्राकार होकर महारास का प्रकाशन करता है। यहाँ के आनन्द के आगे ब्रह्मानंद भी फीका है। इसी पर अखण्ड महायोग की प्रतिष्ठा होती है।

अखण्ड महायोग में जिस गुरु तत्व की चर्चा है वह उपर्युक्त लिखित व्यष्टि गुरु तत्व से भिन्न है। इसका आस्वादन मात्र साधक या योगी ही करता है, किन्तु अखण्ड महायोग में वर्णित गुरु तत्व के अनुसार गुरु तत्व के साथ-साथ समष्टि

गुरु अथवा विश्व गुरु की स्थिति का उल्लेख है। इस महायोगी की सत्ता का गठन होता है विश्व कुण्डलिनी अथवा विश्व गुरु की उपलब्धि के अनन्तर। यह उपलब्धि साधना-सापेक्ष नहीं है। इसे भगवान् (परम गुरु-विश्व गुरु) की अहेतुकी नित्य सामान्य कृपा माना गया है। उपनिषदोक्त दहराकाश की उपलब्धि यहीं होती है। दहराकाश चिदाकाश से ऊर्ध्व तथा सहस्रदल से भी परे की अवस्था है। चिदाकाश का अतिक्रमण करते हुये योगी अपने को चैतन्य राज्य में पाता, अनुभव करता है।

चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरञ्जनम्
नाद बिन्दु कलातीतं तस्मै श्री गुरवे नमः ।

विश्व गुरु की अहेतुकी कृपा से योगी को दहराकाश में ही परम रहस्यमय अष्टदल का प्रस्फुटन महाभाव रूप में होता है। यह शक्ति की परावस्था है। यही यथार्थ भाव सत्ता है। परम तत्त्व रूप महासमुद्र की तरंग है भाव। श्रीभद्भागवत में भावभूमि की चर्चा का विश्लेषण विभिन्न प्रकार से हुआ है; किन्तु अखण्ड महायोग की धारा के अनुसार भाव का रूप अधिक गहन एवं व्यापक रूप से परिलक्षित होता है। इसके अनुसार 'स्वभाव' अथवा 'स्व का भाव' ही यथार्थतः महाभाव है। सर्वप्रथम 'स्व' की उपलब्धि तदनन्तर 'भाव का उन्मेष' तत्पश्चात् 'स्व' के वक्षस्थल पर भाव की क्रीड़ा। सर्वान्त में भाव और 'स्व' का सामरस्य। इसकी प्राप्ति का आरम्भ चिदाकाश साक्षात्कार से ही होने लगता है और पूर्ण परिणति होती है दहराकाश में। दहराकाश में ही महाभाव प्रस्फुटित होता है। 'दहराकाश' ही नित्य गुरु का धाम है। यहाँ योगी अनुभव करता है—

यद् सत्येन जगत सत्यं यद् दर्शेन भासयति
यदानन्देन नन्दन्ति तस्मै श्री गुरवे नमः ।
न गुरोर्अधिकं तत्त्वं न गुरोर्अधिकं तपः
न गुरोर्अधिकं ज्ञानं तस्मै श्री गुरवे नमः ।

प्रथम गुरु तत्व में अन्तर्दर्शन होने पर भी बाह्य सत्ता है, क्योंकि सूर्य की किरणें जिस प्रकार विकीर्ण होती हैं इसी प्रकार गुरु का दर्शन साधनावस्था में सम्भव है क्योंकि गुरु तत्व में रश्मियों का विकीरण है। इस स्थिति में गुरु तत्व दृश्य है और साधक देहधारी द्रष्टा। इन दोनों का साक्षी है हृदयस्थ ईश्वर। परन्तु नित्य गुरु की किरणें विकीर्ण नहीं हो रहीं। अतः नित्य गुरु दृश्य नहीं हो सकता फिर साधक महायोगी भूमि पर आरूढ़ होकर नित्य गुरु का साक्षात्कार कैसे करते हैं? इस शंका का समाधान इस प्रकार है कि साधक इस भूमि पर आरूढ़ होकर स्वयं नित्य गुरु हो जाता है। यहाँ द्वैत सन्धान नहीं है। वह स्वयं गुरु है और

स्वयं ही शिष्य, जैसे जल ही हिम है और हिम ही जल। यद्यपि दोनों की सत्ता अलग-अलग भासित है।

अखण्ड महायोग साधना धारा का चरम लक्ष्य है स्वभाव की प्राप्ति। इसके लिये आवरण भंग करना ही साधना है। प्रथम आवरण है देह, जिसका साधक कर्मानुष्ठान से भंग कर सकता है। दूसरा आवरण है मन, जिसका भंग होता है चित्त की एकाग्रतावर्धक उपासना द्वारा। तीसरा आवरण है गुरु तत्त्व की प्राप्ति पर गुरु के अतीत नित्य गुरु की स्थिति को न प्राप्त करना। इसका आवरण है ब्रह्मरन्ध्र रूप चिदाकाश पर पड़ा पर्दा। इस तृतीय आवरण चिदाकाश के पर्दे को शक्ति द्वारा भंग किया जा सकता है जिसकी चर्चा उपर्युक्त है। इसके पश्चात् आवरण की सत्ता ही नहीं रहती। यह तीनों आवरण कुण्डलिनी के एक-एक वलय के समान हैं और आधा वलय है चिदाकाश एवं दहराकाश की सन्धि। यहीं अपेक्षित है महाशक्ति की महाकृपा। अखण्ड महायोग समष्टि स्थिति चिदाकाश में जितनी सम्पुष्ट है, व्यष्टि अवस्था में उतनी सम्पुष्ट नहीं हो सकी है। इसका प्रधान कारण है गुरु तत्व का यथार्थ तात्पर्य था विस्मृत होना। गुरु तत्व की आधारशिला पर ही अखण्ड महायोग की व्यष्टि सत्ता का गठन ज्ञानगंज में किया गया था। अतः अन्तर्जगत् में प्रत्येक को गुरु सत्ता की सम्यक् उपलब्धि करना चाहिये। इससे प्रत्येक साधक के अन्तर्जगत् में गुरु तत्व के प्रति एकाग्रता का उन्मेष होगा। परिणामतः जगत् में अखण्ड महायोग की पूर्ण प्रतिष्ठा सम्पन्न हो सकेगी।

सार-संक्षेप

कविराज जी ज्ञानगंज गुरु राज्य से सम्बद्ध थे जहाँ उनके गुरु परमहंस विशुद्धानंद जी ने २० वर्ष तपस्या की। उनके आदेश एवं संरक्षण में अखण्ड महायोग की तीन कठिन साधनायें सत्रह-सत्रह मास की पूरी कीं और दैवी शक्ति का प्रेमस्वरूप दर्शन किया। कविराज जी के व्यष्टि रूप से सारी उपलब्धियों को अस्वीकार करने पर महाशक्ति ने उनके महासंकल्प सम्पूर्ण विश्व के रूपान्तरण तथा समष्टि मुक्ति के लिये आशीर्वाद दिया। इसके लिये सम्पूर्ण मानवता को भावापन्न होकर मात्र माँ को पुकारना है। अखण्ड महायोग साधना का मुख्य आधार था कुमारी सेवा। स्थूल रूप से कुमारी कन्या को भोजनादि उपचार द्वारा पूजित किया जाता है। जब तक देहाभिमान है तभी तक इसकी आवश्यकता है। इसी से स्थूलत्व विगलित होता है। कुमारी शक्ति चैतन्यमयी है। इसकी सेवा में जड़ देहस्थ दुष्कृति का विनाश होता है। अतः देह रहने तक कर्म करना होगा। कुमारी पूजन की सूक्ष्म सत्ता भी है। सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाड़ी ही सूक्ष्म कुमारी रूपा है। इसका पूजन अन्तःप्रवेश तथा ध्यान द्वारा किया जाता

है। यह सूक्ष्म कर्म (संस्कार) की विनाशिनी है, यही मध्यपथ है जिसका विशद वर्णन उपर्युक्त है। सुषुम्ना सूक्ष्म मन या माँ की गोद में बैठकर माँ की पुकार भावापन्न होकर करना ही अवशेष है जो समष्टि मुक्ति का आधार है। कविराज जी का दृढ़ निश्चय है कि मात्र इसी क्रिया से विश्व का रूपान्तरण अवश्यम्भावी है जो महानिशा में होगा। मानव मात्र के लिये माँ की वह महाकृपा होगी।

अखण्ड महायोग

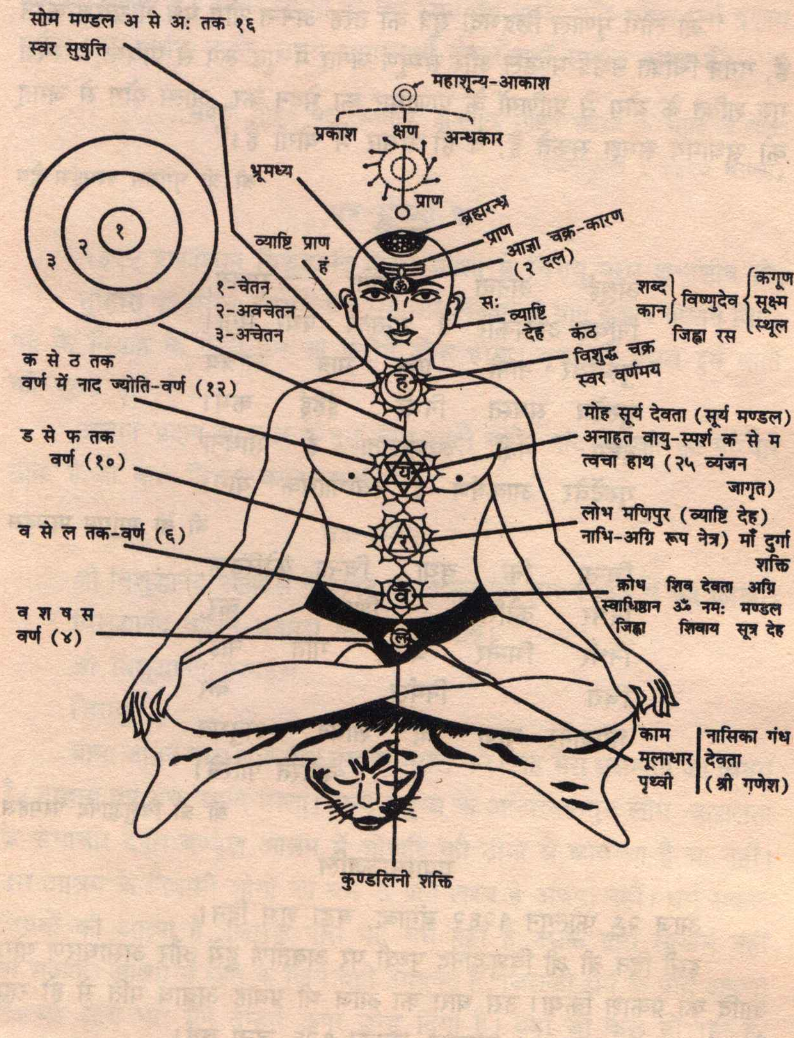

सोम मण्डल अ से अः तक १६
स्वर सुषुप्ति
महाशून्य-आकाश
प्रकाश
क्षण
अन्धकार
भ्रूमध्य
प्राण
ब्रह्मरन्ध्र
प्राण
आज्ञा चक्र-कारण
(२ दल)
व्याष्टि प्राण
हं
१
२
३
१-चेतन
२-अवचेतन
३-अचेतन
सः
व्याष्टि
देह
कंठ
शब्द
कान
विष्णुदेव
कगूण
सूक्ष्म
स्थूल
जिह्वा रस
क से ठ तक
वर्ण में नाद ज्योति-वर्ण (१२)
विशुद्ध चक्र
स्वर वर्णमय
मोह सूर्य देवता (सूर्य मण्डल)
अनाहत वायु-स्पर्श क से म
त्वचा हाथ (२५ व्यंजन
जागृत)
ड से फ तक
वर्ण (१०)
लोभ मणिपुर (व्याष्टि देह)
नाभि-अग्नि रूप नेत्र) माँ दुर्गा
शक्ति
व से ल तक-वर्ण (६)
क्रोध शिव देवता अग्नि
स्वाधिष्ठान ॐ नमः मण्डल
जिह्वा शिवाय सूत्र देह
व श ष स
वर्ण (४)
काम
मूलाधार
पृथ्वी
नासिका गंध
देवता
(श्री गणेश)
कुण्डलिनी शक्ति

परिशिष्ट

''जो लोग भीषण जन कोलाहल के मध्य भी गम्भीर भाव से अकम्पित चित्त, लक्ष्य भ्रष्ट नहीं हो रहे हैं तथा निर्भीक अन्तःकरण से स्वाभाविक सरल पथ के अन्वेषण का चिन्तन करते हैं, वे संसार में अनासक्त परमहंस हैं।''

''जो लोग मृणाल छिद्रभेदी सूत्र की तरह अनन्त योग पथ में प्रवेश करते हैं, गगन चित्रित नक्षत्र मण्डल और सम्पूर्ण जगत् में गूढ़ रूप से प्रविष्ट, अस्पर्श गुरु शक्ति के योग से प्राणियों के प्राणाधार का भेदन कर, आत्म योग से जगत् को सुधामय समझ सकते हैं, वे ही संसार में योगी हैं।''

श्री श्री भृगुराम परमहंस देव

वाणी

अश्रुई अनन्त ध्यानेर सहाय,
निविड़ अन्धकार ई गन्तव्य पथेर संगी।
गुरूर्देवर नामी एक मात्र आश्रय
गुरुदेव समस्त निर्भर ईहई कर्म।
ह्रदय भेदी व्याकुलता ई साधना
गुरुर्देवेर आकर्षण ई स्वाभाविक योग।

श्री श्री भृगुराम परमहंस

चिन्ता कि वृथा चिन्ता कोरिउना,
निर्भर कोरिते शिक्षा कर,
निर्भर भिन्नेर जीवेर गति नाई।
चित्त निर्मल कर
भगवानेर कृपा वा शक्ति अनुभव
कोरिते पारिबे।

श्री श्री विशुद्धानंद परमहंस

प्रणामाञ्जलि

आज २९ फाल्गुन १२६२ बंगाब्द, बड़ा शुभ दिन।

इसी दिन श्री श्री विशुद्धानंद पृथ्वी पर अवतीर्ण हुये और असाधारण योग आदि का प्रकाश किया। उस धारा का आज भी प्रवाह अबाध गति से हो रहा है। सं० १३८८ साल-२९ फाल्गुन, उनका १२६ जन्म वर्ष।

श्री श्री विशुद्धानंद परमहंस देव अति उन्नत योगादि भाव का प्रदर्शन कर, उनका सांसारिक कर्तव्यादि को सम्पन्न कर देखा गया है कि गृह संसार और योग कोई अलग-अलग नहीं है। यह अविच्छिन्न है। नरदेह धारण करके भी मनुष्य देवत्व लाभ कर सकते हैं। यह विशुद्धानंद जी को न देखने से विश्वास नहीं किया जा सकता था। सम्भवतः यह भी उसी परमेश्वर द्वारा ही कल्पित है। इस क्षुद्र निवेदन पत्र में इसका वर्णन सम्भव नहीं है, न ही वह पूर्ण हो सकता है। उनकी उपमा ही वह स्वयं हैं। उनके प्रति भक्ति पूर्ण प्रणाम पूर्वक क्षमा प्रार्थना करके, उनसे क्षमा प्रार्थी होकर यहीं समाप्त करता हूँ।

सर्वश्री मोहन चट्टोपाध्याय, अवनीन्द्र मोहन चटर्जी के संग्रह से प्राप्त।

(रचनाकाल : १३२७ बंगला)

पत्र-संख्या १

१३२४ शत्राश्विन विशुद्धानंद कुटीर काशी में चिरायु परम शुभाशीष हो।

तुम्हारा पत्र मिला, जिसमें सब समाचार विस्तार से प्राप्त हुआ। श्रीमान् विष्णु पद के विवाह के लिये तुम जो करोगे ठीक होगा। वृथा ही मुझसे इन बातों को पूछते हो।

आदान-प्रदान व्यवहार में तुम जैसा चाहो करो। यदि लड़की का परिवार ठीक है तो कुछ विचार करना व्यर्थ है।

पत्र-संख्या २

श्री विशुद्धानंद परमहंस ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को बंग १३३९ में पत्र लिखा।

विशुद्धानंद कानन-बनारस कैंट, आशीर्वाद।

श्री विशुद्धानंद परमहंस

चिरायु

बाबा जीवन परम मंगलमय तुम्हारा मंगल करे। यह मेरी प्रसन्नता का विषय है। तुम्हारा पत्र यथा समय मिला। अन्य कुटुम्ब के अतिरिक्त तुम लोग कुशलता के समाचार देना। बण्डूल आश्रम में भोगादि की ठीक से व्यवस्था है या नहीं। उस आश्रम के निवासी लोगों का धर्म के प्रति लक्ष्य है अथवा नहीं। धर्म सकल विषयों की आत्मा है, जिसके पास यह धर्म नहीं है उसके द्वारा सत्कर्म नहीं हो सकता। आश्रम में रहने के लिये वही उपयुक्त है, जिसकी धर्म के प्रति आस्था है। यह सारा भार मैंने तुम्हारे ऊपर छोड़ दिया है। वहाँ जो कुछ हो रहा है, उसमें अपना नियंत्रण रखना।

मैं किसी को ऋणी नहीं बनाना चाहता और ऋण का भार भी छोड़कर नहीं जाना चाहता। मरणशील (पार्थिव शरीर के रूप को किसने पहचाना) एक योगी का बाह्य जीवन कुछ नहीं। उनके अन्दर में फल्गु धारा का अन्तरंग जीवन का स्रोत जो बहता है, वही उनका यथार्थ परिचय है। यह परिचय साधारण मनुष्य की समझ के बाहर। अतः स्वामी विशुद्धानंद परमहंस का लोकोत्तर योग शक्ति के विषय में वर्तमान लेखक के लिये कुछ कहना धृष्टता होगी। इसीलिये विभिन्न काल में महाजनों से उनके बारे में जो आभास मिला (प्रतिच्छाया मिली) वही कहना श्रेय रहेगा।

तब वह बर्दवान में थे। एक दिन दोपहर को अपने आप एक सुई-तागा से कपड़ा सी रहे थे, उनके सामने उनका छोटा पौत्र बैठा था। कौतूहलवश बोला कि यह तो फट गया, इसको सिल कर क्या होगा। पौत्र के इस बालकोचित प्रश्न के उत्तर में बाबा स्निग्ध वात्सल्य में बोले—फट जाने में ही क्या किसी चीज को फेंक देना पड़ेगा। यह तुमसे किसने कहा। महायोगी के गृह रूप का यह अपूर्व प्रकाश है।

उस बार वह कुम्भ मेला गये। साथ में पुत्रवधू और बालक पौत्र भी गया। छोटा बालक बड़ा ही चञ्चल था। उसको लेकर माँ के लिये कुम्भ स्नान के लिये जाना कठिन था। कब भीड़ में खो जाय या पानी में गिर जाय, यह माँ के लिये बड़ा चिन्तनीय विषय था।

बाबा ने बालक को अपने पास रख लिया तब घर वाले स्नान करने गये। बालक अति चञ्चल था। उन्होंने बालक को अपने पास बुलाया और उसके सिर पर अपना हस्त स्पर्श किया, तुरन्त ही बालक निद्रित हो गया। कुछ देर बाद जब वह नहाकर वापस आये तब बाबा ने निद्रित बालक को हाथ-स्पर्श कर जगाया कहा, उठो जागो। बालक जाग उठा और बैठ गया। तब बाकी लोगों ने पूछा, कुम्भ स्नान कैसा हुआ। उन्होंने विस्तार पूर्वक बताया। अब स्वामी जी ने बालक पौत्र से पूछा कि तुमने क्या देखा? बालक ने उत्तर दिया, क्यों? मैंने तो आपका हाथ पकड़ कर गंगा जी के घाट-घाट पर घूम आया। कितने साधु-सन्त व जन-भीड़ देखी। बालक ने अपने मानसिक भ्रमण का विस्तार पूर्वक वर्णन दे दिया। मन्तव्य निष्प्रयोजन दिव्य जीवन समाप्ति के अवसर पर पूर्वा का सुर लगा—यही उनका बर्दवान का अन्तिम समय जाने का आयोजन सम्पूर्ण सारा आश्रम देखा, घूमा, हर एक वृक्ष-लता के सामने खड़े रहे। गम्भीर स्नेह में सबको स्पर्श किया। म्लान गोधूलि बेला का सूर्य पश्चिम आकाश में अस्त हो रहा है। निविड़ वातावरण पूर्वक बालक पौत्र का स्पर्श करके बोले—बाबा महामाया को मैंने यहाँ बाँध दिया। थोड़ी पुकार में ही यह मिलेगी। यही था महायोगी का अन्तिम आश्वासन-आशीर्वाद।

आशीर्वचन

''विश्व में सभी को एक समय माँ कहकर पुकारना होगा। मनुष्य की महामण्डली (फेडरेशन ऑफ मैन काइण्ड) को इस महाकर्म में योग देना होगा। विश्व पूर्णत्व लाभ के पथ पर चल रहा है, कोई भी उसमें गतिरोध नहीं कर सकता। इस महाकर्म में पृथक् रहना मनुष्य मात्र के लिये असम्भव है। विज्ञानावतरण (सूर्य विज्ञान) न होने तक प्रत्येक मानव को, प्रत्येक केन्द्र से 'माँ' ध्वनि उत्थित करनी होगी। स्वेच्छा से पुकारना अपने लिये मंगलमय होगा। जो अवश्यम्भावी है, उसका कोई गतिरोध नहीं कर सकता।''

कविराज जी

''अब कठोर कर्म साधना करने का समय नहीं है। मात्र 'माँ' पुकारना ही कर्तव्य है। प्रत्येक मानव सन्तानत्व का अधिकारी है, यहाँ शुचि, नियम, विधि अथवा योग्यता का विचार अनावश्यक है। सभी अपने सम्प्रदाय में रहकर 'माँ' को पुकार सकते हैं। यहाँ केवल 'शिशुभाव' का निर्देश है, जहाँ सारे भेद स्तमित हैं। स्वयं पुकार कर सबको 'माँ' उच्चारण का सन्देश देना होगा। 'माँ' से युक्तता के लिये पुकारना या चिन्तन एक ही बात है। उस 'अचिन्त्य,' करुणामयी, परमानंदमयी, अमृतमयी निरुपाधिक विशुद्ध सत्ता के प्रति 'सन्तानत्व का बोध' चाहे जैसे भी हो हृदयंगम करना होगा। वर्तमान में यही मनुष्य मात्र का कर्म है। कालाभिमुख विद्रोही सन्तान प्रकृति के नियमानुसार, अवतरण के क्षण, संहार रूपी प्रलय के दृष्टाघात से चूर्ण होगी ही। उस समय कोई 'माँ' को पुकारना न भूले, इस अनुरोध को संसार के समक्ष निवेदन करता हूँ।''

कविराज जी

''अपनी देह से बाहर निकलकर अपने व्यक्तित्व में स्थिर होकर युक्तत्व की शोध में कुछ नवीन व्यक्त करो, तो तुम्हें चित्क्रिया का आस्वादन मिले और तुम भाग्याधीन न रहो।''

गुप्तावतार श्री बाबा

''यथा समय क्रिया करने से थोड़े ही समय में जो परिणाम प्राप्त होता है, अन्य समय में उतना फल प्राप्त करने के लिये उससे बहुत अधिक समय या श्रम की आवश्यकता होती है।''

''क्रिया करो क्रिया करो उससे ही निर्भरता आयेगी। तब समझ में आवेगा और चञ्चलता नहीं रहेगी। क्रिया करने से ही ईश्वर की कृपा की उपलब्धि होती है। कृपा तो अनवरत झर रही है, परन्तु क्या कुछ अनुभव हो रहा है? तुम लोगों से मैं केवल इतना चाहता हूँ कि तुम्हारे अन्दर सुमति हो और तुम लोग सद्वृत्ति को अपनाओ।''

"सभी कार्यों का समय है। असमय में कोई भी कार्य सुसम्पन्न नहीं होता। चार सन्धि क्षण होते हैं—सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न एवं चतुर्थ महानिशा। सूर्योदय एवं सूर्यास्त में जो वस्तु प्राप्त होती है, वह अधिक सूक्ष्मतर है।"

श्री विशुद्धानंद परमहंस देव

"मानव हृदय में यदि सरसों भर भी पवित्रता रहे तो अखण्ड महामाया का विशुद्ध भाव से ध्यान करने से जो ज्ञान आता है, उसके उज्ज्वल तेज से सकल प्रकार के पाप-ताप, माया-यन्त्रणा, आसक्ति का मैल आदि सब कुछ भस्म हो जाते हैं। तब हृदय में महाशक्ति तथा जगत् शक्ति का ज्ञानामृत प्रकाशित होकर जीव, कलुषित संतप्त चित्त रूपी महाआवरण से परित्राण पाता ही है।"

श्री विशुद्धानंद परमहंस देव

"साधारणत: देखा जाता है कि श्वास-प्रश्वास की गति के प्रति हम लोगों का लक्ष्य नहीं रहता, किन्तु जब लक्ष्य रखने का अभ्यास किया जाय तब प्राण के साथ मन का योग होता है। यह योग प्राय: टूट जाता है। अभ्यास की दृढ़ता होने से इस प्रकार की एक अवस्था आती है, जब यह योग नहीं टूटता। तभी ठीक साक्षी अवस्था का एक आभास प्राप्त होता है। इसी आभास के साथ अन्तराकाश में प्रकाश खुलने लगता है। साथ ही साथ प्राण और अपान समान होकर श्वास और प्रश्वास धीमा होकर बन्द हो जाता है। नेत्र बन्द करने पर जो अन्धकार समझ में आता है—तब वह प्रकाशमय हो जाता है।"

कविराज जी

"बोध का विकास न रहने की वजह से ही चेतन पुरुष के प्रति आत्म-लोप की अवस्था है। इसका एक मात्र उपाय है चैतन्य के साथ युक्त रहकर चेतन रहना। शिशुवत् सरल चित्त से माँ की पुकार करने पर माँ उसकी रक्षा अवश्य ही करेगी।"

कविराज जी

"वास्तव में मनुष्य विज्ञान की कामना करता है। मनुष्यत्व सर्वश्रेष्ठ विज्ञान है। इसी की सम्प्राप्ति हेतु देवगण नरदेह धारण करते हैं। जो विज्ञान का अन्वेषण करता है, वह कभी भी अन्धकार त्यागकर आलोक की ओर धावमान नहीं होता। स्वयं अन्धकार को पूर्ण आलोक रूप में विकसित करता है। यही मनुष्य जीवन का वास्तविक उद्देश्य है।"

कविराज जी

13927

मनीषी, संत, महात्मा-जीवन चरित्र

महामानव महावीर	डॉ० गुणवन्त शाह
करुणामूर्ति बुद्ध	डॉ० गुणवन्त शाह
नीम करौरी के बाबा	डॉ० बदरीनाथ कपूर
उत्तराखण्ड की संत परम्परा	डॉ० गिरिराज शाह
सोमबारी महाराज	हरिश्चन्द्र मिश्र
संत रैदास	पद्मावती झुनझुनवाला
सूर्यविज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द	नन्दलाल गुप्त
पुराण पुरुष योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी	सत्य चरण लाहिड़ी
योगिराज तैलंग स्वामी	विश्वनाथ मुखर्जी
ब्रह्मर्षि देवराहा दर्शन	डॉ० अर्जुन तिवारी
भारत के महान योगी (५ जिल्द १० भाग)	विश्वनाथ मुखर्जी
भारत की महान साधिकाएँ	विश्वनाथ मुखर्जी
गुप्त भारत की खोज	पाल ब्रंटन
कृष्ण का जीवन संगीत	डॉ० गुणवन्त शाह
कृष्ण और मानव सम्बन्ध	हरीन्द्र दवे

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज
की
प्रमुख कृतियाँ

मनीषी की लोकयात्रा *(कविराज जी का जीवन दर्शन)*

साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग *(भाग - १, २, ३)*

कविराज प्रतिभा

ज्ञानगंज

तन्त्राचार्य गोपीनाथ कविराज और योग-तन्त्र-साधना

शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी

श्रीसाधना

दीक्षा

सनातन-साधना की गुप्तधारा

भारतीय संस्कृति साधना *(भाग - १, २)*

भारतीय साधना की धारा

तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि

तंत्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन

अखण्ड महायोग का पथ और मृत्युविज्ञान

स्व संवेदन

आध्यात्मिक साहित्य की विस्तृत सूची के लिए लिखें-

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

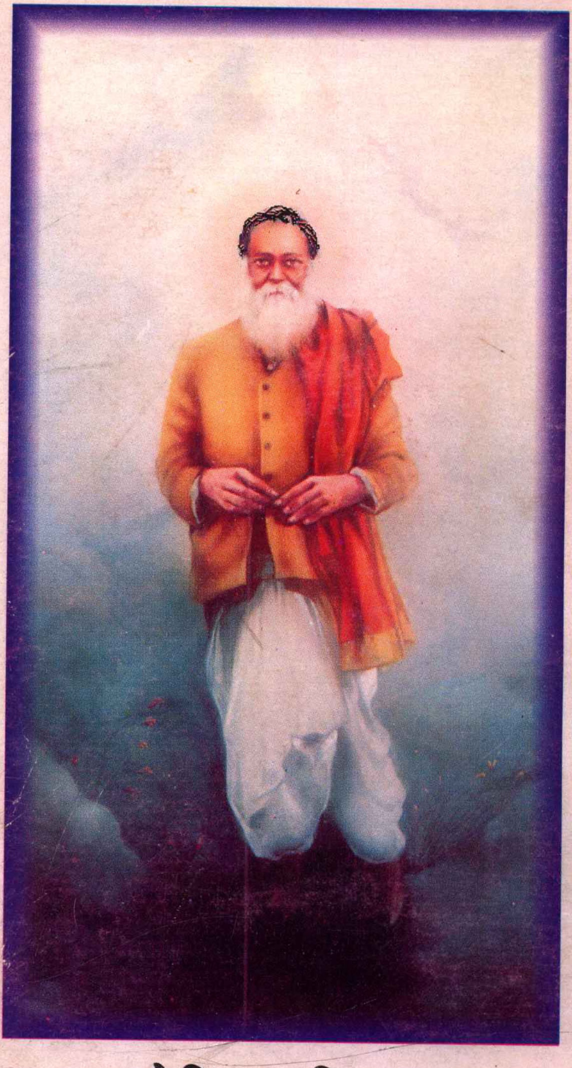

योगिराजाधिराज
स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव